आधुनिक काव्य में सौन्दर्य-भावना

लेखिका
कुमारी शकुंतला शर्मा एम. ए.

पुस्तक मिलने का पता—
साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रकाशक
सरस्वती मंदिर
जतनबर, बनारस

स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी की आधुनिक आलोचना के प्रवर्तक

आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल

की

पुण्य-स्मृति

में

ग्रंथ-श्रद्धांजलि ।

—शकुंतला

'समीक्षा-संसद्' के प्रेरक स्वर्गीय पं० रामचंद्र जी शुक्ल हैं। आधुनिक राजनीति के विविध प्रवाहों के घटाटोप में साहित्य की स्वच्छंद सत्ता को विलीन होते देख उसके योग-क्षेम के लिए उन्होंने 'समीक्षा-संघ' की स्थापना की थी। सभी कर्ताओं और समीक्षकों ने उसमें सहर्ष सहयोग-प्रदान किया था। शुक्ल जी स्वयं उसके अध्यक्ष थे और स्वर्गीय मुंशी प्रेमचंद जी उपाध्यक्ष। हिंदी के समीक्षा-क्षेत्र में संप्रति कितनी ही विजातीय शक्तियाँ प्रविष्ट होकर उसका रूप विकृत कर रही हैं, अतः साहित्य और समीक्षा के स्वच्छंद और सत्स्वरूप की प्रतिष्ठा का संभार करने की महती आवश्यकता का अनुभव करके काशी-विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के कतिपय प्राध्यापकों ने उन्हीं की स्मृति में इसकी स्थापना की है। साहित्य के शाश्वत उद्देश्यों की सिद्धि के लिए प्रयास और हिंदी की समीक्षा की गति-विधि का निरीक्षण एवं विकास इसके लक्ष्य हैं।

परिचय

प्रस्तुत पुस्तक का परिचय दो प्रकार से देना आवश्यक है। किस प्रकार की परंपरा में यह ग्रंथ निर्मित हुआ है और इसका प्रतिपाद्य क्या है? बात बीस-इक्कीस वर्ष पुरानी है; जिस समय इन पंक्तियों का लेखक विद्यार्थी था और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का हिन्दी-विभाग अपने पूरे उभाड़ पर था। जिस समय उसे बाबू श्यामसुंदरदास, लाला भगवानदीन, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ऐसे श्रेष्ठ साहित्यकारों की छत्र-छाया प्राप्त थी और देश के अन्य विश्वविद्यालय या तो हिन्दी-विभाग का निर्माण कर रहे थे या सीख रहे थे कि किस प्रकार इस नवीन विभाग का संगठन किया जाय। इन विषयों में हिन्दू विश्व-विद्यालय का हिन्दी विभाग सब का अग्रज और अग्रणी था। उक्त श्रेष्ठ विद्वानों द्वारा स्थापित मान्यताओं और पद्धतियों का सर्वत्र अनुकरण हुआ। उन दिनों तक हिन्दू विश्वविद्यालय में लेख वाले प्रश्न-पत्र के स्थान पर स्वतंत्र विषय लेकर थीसिस लिखने की नींव नहीं पड़ी थी। सन् १९३० में मुझे परीक्षा देनी थी। अध्यक्ष बा० श्यामसुन्दरदास ने इच्छा प्रकट की एम० ए० परीक्षा में थीसिस लिखने की प्रथा स्थापित की जाय। इस पर मैंने प्रयत्न करने का वचन दिया और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल से बातचीत की। उन्होंने विषय का निर्वाचन किया और मैं उन्हीं के दिए हुए सूत्रों को लेकर चल पड़ा।

उक्त क्रम से चलकर 'हिन्दी की गद्य-शैली का विकास' तैयार हो गया। अपनी नन्हीं-सी सफलता देखकर आदरणीय श्यामसुंदरदास बड़े उत्साहित हुए और साहस करने का विचार किया कि निबंध वाले प्रश्न-पत्र के स्थान पर थीसिस का लिखाना अनिवार्य कर दिया जाय। दूसरे ही वर्ष मुझे विभाग में अध्यापन-कार्य के लिए नियुक्त किया गया और मुझे भी उस साहस में योग देने का अवसर मिला। हम लोगों के

उत्साहित होने पर भी तीन-चार वर्षों तक तो कोई विशेष रूप नहीं दिखाई पड़ा ; पर आगे चल कर क्रम से दो व्यक्तिगत प्रयास और हुए। पं० जनार्दन झा 'द्विज' और पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी स्वतंत्र निबंध लिखे। फिर तो तो इसे प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य कर दिया गया और अनेक विद्यार्थियों ने आज तक करीब सौ के सफल निबंध लिखे हैं। उनमें से अनेक तो प्रकाशित हो चुके हैं और उनमें से कुछ तो वस्तुतः इतने काम की चीजें मानी जा चुकी हैं कि कई विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं के पाठ्य-क्रम में निर्धारित है। जहाँ तक स्मरण आता है निम्नलिखित रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं :—

लेखक	कृति
१. जगन्नाथप्रसाद शर्मा	हिन्दी की गद्य-शैली का विकास
२. जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'	प्रेमचन्द की उपन्यास-कला
३. विश्वनाथप्रसाद मिश्र	विहारी की वाग्विभूति
४. लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'	काव्य में अभिव्यंजनावाद
५. सूर्यबली सिंह	हिंदी की प्राचीन और नवीन काव्य-धारा
६. पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव	आदर्श और यथार्थ
७. ज्ञानवती त्रिवेदी	घन आनन्द और आनन्द घन
८. शिवनारायण लाल	हिन्दी-उपन्यास
९. रामचन्द्र श्रीवास्तव	हिन्दी-काव्य में प्रकृति
१०. शिवनाथ	हिन्दी में कारकों का विचार
११. विजयशंकर मल्ल	काव्य में प्रगतिवाद
१२. बच्चन सिंह	क्रान्तिकारी कवि 'निराला'
१३ श्रीपति शर्मा	प्रेमचन्द और उनकी कहानियाँ
१४. रामलाल सिंह	कामायनी-अनुशीलन
१५. केदारनाथ शर्मा	'प्रसाद' की कहानियाँ
१६. ठाकुर प्रसाद सिंह	हिन्दी के निबंध और निबंधकार

इस प्रकार अभी तक के उक्त डेढ़ दर्जन ग्रंथ शुद्ध विद्यार्थी-जीवन के प्रयास हैं। इनमें से कई कृतियों को बहुत ख्याति प्राप्त हो चुकी है और अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में उन्हें पर्याप्त मान्यता मिली है। इनके अतिरिक्त भी अभी अन्य अनेक रचनाएँ विभाग में सुरक्षित हैं जिनका कुछ यथोचित सुधार-परिष्कार कर दिया जाय तो काम की चीजें हो जाँय। इसका उत्तम प्रमाण प्रस्तुत पुस्तक है—'हिन्दी काव्य में सौन्दर्य-भावना'। इसकी लेखिका हैं कुमारी शकुन्तला शर्मा जो कवियित्री होने के कारण प्रकृतया भावुक और रसमयी हैं। अपनी प्रकृति के अनुरूप उन्होंने विषय चुना और पं० केशवप्रसाद मिश्र ऐसे सहृदय से उन्हें विषय के पल्लवन की प्रेरणा मिली। इस प्रकार के विषयों की ओर अब हिन्दी-साहित्य के लेखकों का ध्यान जा रहा है यह देख कर प्रसन्नता होती है। भले ही यह आरम्भिक प्रयास मनःशास्त्र के आधार पर सूक्ष्म चिंतन के क्षेत्र की ओर अधिक न बढ़ा हो पर व्यवहार-पक्ष का सामान्य अवगाहन हो ही गया है। भाव-प्रवण होने के कारण विवेचिका का रुख सर्वत्र आधार के योग से आधेय तक पहुँचने का दिखाई पड़ता है।

औरंगाबाद : काशी
शिवरात्रि १९०८

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

निवेदन

आज से ५-६ वर्षों पूर्व काशी विश्वविद्यालय की एम. ए. परीक्षा के लिए प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना हुई थी। इस ग्रन्थ के लेखन में आदरणीय गुरुवर आचार्य केशव प्रसाद जी मिश्र, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग की प्रेरणा ही मुख्य थी। उन्होंने ही विषय का निर्वाचन किया था, उन्होंने ही प्रस्तुत प्रबंध की रूपरेखा निर्धारित की थी और वे ही इस ग्रन्थ के लेखन में आदि से अन्त तक सदा पथ-प्रदर्शन करते रहे। अतः इस ग्रन्थ की जो कुछ अच्छाई है, वह आचार्य जी की है और इसमें जो त्रुटियाँ रह गई हैं वह सब मेरी हैं।

यह प्रबंध उस समय जिस रूप में लिखा गया था, प्रायः उसी रूप में यह प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि इसमें परिवर्धन, परिवर्त्तन और यत्र-तत्र संशोधन करने का विचार था, तथापि कुछ शीघ्रता के कारण और कुछ अन्य कारणों से यही ठीक जान पड़ा कि निबंध जिस रूप में लिखा गया था, उसी रूप में प्रकाशित किया जाय। इसी कारण प्रबल इच्छा रहते हुए भी ग्रन्थ प्रायः अपने उसी रूप में छप रहा है जिस रूप में परीक्षा के लिए लिखा गया था।

आचार्य केशव प्रसाद जी के प्रति कृतज्ञा-प्रकाश कर उसका मूल्य कम करना उचित नहीं है। जीवन पर्यंत मस्तक उनके प्रति श्रद्धावनत रहेगा। प्रबंध लिखते समय गुरुवर पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी प्रबंध को समय-समय पर देखने और बहुमूल्य सुझाव देने की जो कृपा की थी, लेखिका उसके लिए उनकी ऋणी है। गुरुवर डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

और पं० करुणापति त्रिपाठी ने इसकी रूपरेखा के पल्लवन और प्रसार तथा अब प्रकाशन में जो सहायता दी है, उसके प्रति मैं चिर आभारी हूँ। इन सबका सहयोग और आशीर्वाद पाकर भी प्रस्तुत ग्रन्थ में जो त्रुटियाँ रह गई हैं, मुझे विश्वास है, पाठक उसके लिये क्षमा करेंगे। प्रकाशन की शीघ्रता के कारण कुछ मुद्रण संबंधी अशुद्धियाँ रह गई हैं जिनके लिए मुझे खेद है।

२५-१२-५१
काशी।

—लेखिका

विषयानुक्रम

पूर्व-पीठिका

सौन्दर्य-परिचय

दार्शनिक

सृष्टि के आदि काल से मानव सत्य का अन्वेषण करता चला आ रहा है, किन्तु उसकी जिज्ञासा-वृत्ति अब तक न शान्त हो सकी। सत्य अनन्त है, व्यापक है, रहस्यमय है और उस सत्य का विवर्त यह विश्व भी अनन्त है। इसके समस्त कर्मों पर हमारा अधिकार नहीं जम सकता और न उस विराट् स्वरूप के विश्लेषण तक हमारी पहुंच हो सकती है। मानव अपनी जिन तीन प्रमुख प्रवृत्तियों से परिचालित है—जिज्ञासा, चिकीर्षा एवं सौन्दर्योपासना—उन्हीं तीनों की तृप्ति के लिए वह ज्ञान, कर्म और सौन्दर्य को खोजता है। ये ही प्रवृत्तियां उसे निरन्तर विकास की ओर लिए जा रही हैं। इन्हीं के सहारे वह सत्य के अन्वेषण में निरत रहता है। किन्तु ज्ञान दुर्बोध है, दुरूह है। कर्म कठिन है, कठोर है। सौन्दर्य मृदु है, मधुर है, सुकुमार है, अनन्त है तथापि सरल है। मानव इस मूल कारण को जानते हुए भी अनजान है, सर्वथा समीप पाकर भी उसे पहचान नहीं पाता, जो उसके अणु-अणु में व्याप्त है, जो उस अखंड सत्ता की रमणीय झलक है, उस विश्व-विमोहिनी शक्ति का प्रतिविम्ब है। उसी की ओर मानव-हृदय पूर्णतया उन्मुक्त नहीं, अन्यथा दर्शन का मार्ग अत्यधिक सरल हो जाता। यह जगत् स्वतः आनन्दरूप है। जो कुछ दृष्टिगत हो रहा है, जो कुछ प्रकाशित हो रहा है, वही आनन्द है, सत् और चित् का मंगलमय रूप है। और आनन्द—आनन्द का एकमात्र कारण है सौन्दर्य-बोध। सौन्दर्य की आकांक्षा आह्लाद का सर्जन करती हैं, उसकी अनुभूति आनन्द का साकार रूप निर्माण कर विस्मृति प्रदान करती है, और उसकी आत्मीयता ही हृदय में अक्षय तृप्ति भर देती है। आह्लाद और विस्मृति से परे तन्मयता और तद्रूपता की सृष्टि होती है।

सौन्दर्य बाह्य जगत् में अनन्त सौन्दर्य-निधि आत्मा का दिव्य संकेत है। उस परम सौन्दर्य का ही नाम परमानन्द या ब्रह्मानन्द है और उसी परम सौन्दर्य का अंश जिन-जिन पदार्थों में, जितनी मात्रा में तथा जितनी सूक्ष्मता से अनुभूति का विषय होता है वह वस्तु उतनी ही सुन्दर होती है। इससे स्पष्ट कि है कि आत्मा, परमात्मा तथा सौन्दर्य में केवल दृष्टि-भेद है, तात्विक अन्तर नहीं। ब्रह्म केवल माया के सूक्ष्मातिसूक्ष्म आवरण के कारण लोकात्मा से भिन्न आभासित होता है, अन्यथा भिन्न होने पर भी अभिन्न है।

आधुनिक काव्य-जगत् में परमात्मा का रूप सत्यं शिवं सुन्दरं माना जा रहा है। आत्मा उसका अंश होने के कारण इन गुणों से परिपूर्ण है। अतः सूक्ष्म और स्थूल जगत् में जहां भी आत्मा की अभिव्यक्ति होगी वहां सत्यं, शिवं, सुन्दरं की सत्ता वर्तमान रहेगी। यह वस्तुतः ब्रह्म की तीन उपाधियां हैं। उनका मूल एक ही सत्य है जो अनुभूति-समन्वित होने पर सौन्दर्य की प्रतीति कराता है। सौन्दर्य ही कार्य-रूप में परिणत होने पर मंगलमय हो जाता है। सत्य जब प्रातिभ ज्ञान की उपाधि के भीतर रहता है तब दर्शन का रूप धारण कर लेता है, जब अनुभूति बनता है तब सुन्दर लगने लगता है, जब कार्यरूप में परिणत होने लगता है तब मंगल का रूप प्राप्त करता है। किन्तु साहित्य में सौन्दर्य और मंगल दोनों की साधनावस्था तथा साध्यावस्था वर्तमान रहती है। इस लिए दोनों एकत्र हो कर आ सकते हैं। मंगल से हमारे मनका विचित्र मेल है। प्रत्येक वस्तु में हमारी मंगल-कामना निहित है। हम जो कुछ करते है मंगल के लिए, पूजा, पाठ, दान-धर्म, आदि सब मंगल के ही कारण हैं। किन्तु इस मंगल के मूल का संचालन करने वाली वृत्ति आनन्द की ही वृत्ति है। आनन्द के लिए ही तो मंगल-कार्यों की सृष्टि हुई। कुम्भकार मृत्तिका से पात्र बनाता है, उन्हें विभिन्न नाम प्रदान करता है। इस प्रकार नाम-भेद होने पर भी उनके मूल में एक ही वस्तु है मृत्तिका, नाम-रूप हटा देने पर एक ही वस्तु शेष रह जाती है।

> अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम् ।
> आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिसे हम दर्शनों में आनन्दमय कहते हैं, ब्रह्म का जो सत् स्वरूप तात्विक दृष्टि से सत् और दार्शनिक दृष्टि से चित्, और परमार्थिक दृष्टि से आनन्द है, कलात्मक दृष्टि से वही चिदानन्द परमतत्व सुन्दर है ।

सौन्दर्य का ही एक स्वरूप आध्यात्मिकता है। यदि सूत्र रूप में कहा जाय तो वाणी, मन और बुद्धि के परे आत्मा का श्रेष्ठतम विकास ही आध्यात्मिकता है। मार्तंड के प्रखर उत्ताप से अनन्त अगाध सागर के जलकण उद्वेलित हो उठते हैं, ऊपर उठ जाते है, किन्तु काल पाकर बर्षा के रूप में पुनः उसी सागर के वक्ष पर बरस पड़ते हैं । यही उनकी सार्थकता है। इसी प्रकार आत्मा भी, जो स्वतः उस परम आत्मा से विकसित है, उसीका एक अंश है। वह निरीह जलकणों के सदृश उसी अनन्त में खो जाना चाहती है, यही उसका धर्म है, लक्ष्य है और आदर्श है। सान्त जीवन अनन्त का आलिंगन करना चाहता है, स्वयमपि अनन्त होना चाहता है। आत्मा अपनी क्षुद्रता भूल कर परमात्मा की क्रोड़ में चिरकाल के लिए सो जाना चाहती है। मृत्यु अमृत का अन्वेषण करती है। हम किसी दिन उल्का के सदृश उस महान् अंक से गिर पड़े थे, जन्म-मरण का अविरल प्रवाह हमें अपने तीव्र वेग में बहा ले गया था किन्तु हमारी स्मृति सजग थी, उस सुषमा की, उस अमरता की झलक हमारे हृदयमें भर चुकी थी। हम अमृत की सन्तान हैं, आनन्द से उद्भूत है। नहीं तो हमारे आनन्दातिरेक में "स्वर्ग क्यों उतर आता," क्यों हम ललक कर कह उठते "अमुक वस्तु सुधा सी मधुर है"। हम प्रत्येक कार्य को सुन्दर बना देना चाहते हैं। हम असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर, अन्धकार से आलोक की ओर जाना चाहते है। हमें आनन्द चाहिए यही दार्शनिक का सत्य है, कवि का सौन्दर्य, ज्ञानी की आध्यात्मिकता है और भावुक की कविता। उसी महान् सत्ता में खो जाने की कामना आनन्द है, अमृत है, चिर सुन्दर है। फिर उस चिर सुन्दर में लय हो जाने

के लिए सुन्दर को ही क्यों न खोज लें, क्यों इधर-उधर भटक कर नित दूर जाने का प्रयत्न करें । उस रूप को जी भर देखने पर भी तृप्ति नहीं होती—

जनम-अवधि हम रूप निहारलु
नयन न तिरपित भेल ।

(विद्यापति-पदावली)

श्रवण-दर्शन की लालसा ने स्पर्श-लालसा को भी जगा दिया और—

प्रति अंग लागि कांदे प्रति अंग मोर ।

दार्शनिक इसी परम आनन्द का दर्शन कराता है । अनन्त सौन्दर्य के पास जीवन की एकरूपता का दर्शन करना और कराना ही दार्शनिक का कार्य है, कवि भी उसी मंगलमय आनन्द का अन्वेषण और अनुभव करना और कराना चाहता है । पर उसकी शब्दावली या इसके लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द है सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्य-बोध ।

सौन्दर्य न केवल बाह्याकृति एवं प्रकृति तक निबद्ध रहता है न केवल आत्मा तक ही । जो सौन्दर्य को आन्तरिक मानते हैं वे एकांगी हैं, केवल बाह्य सौन्दर्य प्रवंचना है, केवल आन्तर सौन्दर्य सृष्टि का संचालन नहीं कर सकता। आन्तरिक सौन्दर्य में मंगल की शक्ति भले ही निहित हो किन्तु कार्यरूप में परिणत करने की क्षमता नहीं । एक में बाह्य जगत् के संस्कारों को अपने भीतर लाकर उनका निरीक्षण-परीक्षण करते हैं, दूसरे में अपने अन्तर्जगत् की अनुभूतियों को बाहर लाकर उनका मूल्य आँकते हैं ।

दर्शन जीवन तथा सृष्टि के रहस्यमय जीवन का बौद्धिक निरूपण है ।

छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिचे हुए,
तृण-वीरुध लहलहे हो रहे, किसके रस से सिंचे हुए ।

(कामायनी पृ. २६)

इसके अतिरिक्त उस अनन्त रमणीय की सत्ता भी अकथनीय है—
कैसे हो, क्या हो, इसका तो भार विचार न सह सकता ।

(वही..पृ. २६)

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो जगत्‌की सृष्टि का मूल कारण सौन्दर्य ही है। उपनिषद् और गीता में कहा भी है—

आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवागच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्॥

इस कथन में श्रीमदूर्जितमेववा के द्वारा सौन्दर्यातिशय-समन्वित परम शक्तिमय का संकेत है। अन्यत्रः—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

आनन्द और कुछ नहीं केवल सौन्दर्य है। कविता का सौन्दर्य दर्शन में जाकर आनन्द हो जाता है। प्रकृति के कोने-कोने से एक अनन्त चिन्तन सत्य का आभास मिल रहा है। विद्युत् की तड़प में, तारों की मुस्कान में सब ओर वही सत्य प्रतिविम्बित है—

तारों में प्रतिविम्बत हो, मुस्काएँगी अनन्त आंखें,
होकर सीमा-हीन शून्य में, मडराएँगी अभिलाषाएँ।

अतः उस सत्य की आनन्दानुप्राणित शक्ति ही सौन्दर्य है। प्रत्येक मानव एक दूसरे से एक अदृश्य सूत्र में आबद्ध है। हम सब उसी अदृश्य शक्ति के रूप हैं। सूर्य रश्मियों का समूह है अथवा रश्मियां उससे निकलती हैं, एक ही बात है। रश्मियां एक ओर विकसित, कुसुमित पदार्थों पर लोटती हैं तो दूसरी ओर कूड़े के कण-कण को भी प्रकाशित कर देती हैं—एक ओर सुवासित, सुसज्जित अट्टालिका में अठखेलियां करती है तो दूसरी ओर टूटी-फूटी झोपड़ी को भी आलोकित कर देती हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी एक महान् शक्ति की बिखरी हुई विभूति है। इसीलिए एक के प्रति दूसरे में एक प्रबल किन्तु अज्ञात आकर्षण होता है। यह आकर्षण केवल उसी अभिनव सुन्दर का आकर्षण है जो सृष्टि के कण-कण में झलक रहा है। हम उसे ही सुन्दर कह उठते है। अमुक वस्तु सुन्दर है, अमुक वस्तु अच्छी लगती है, इसके भूल में वही अदृश्य शक्ति निहित है।

भारतीय आचार्यों ने आनन्द, शिव और सुन्दर का चित् और सत् के साथ यही तादात्म्य देख कर दार्शनिक दृष्टि से सौन्दर्यशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ-रचना नहीं की। फिर भी सौन्दर्य के प्रति उनकी दार्शनिक दृष्टि के साथ आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियों का सामंजस्य स्थापित करते हुए हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, ऊपर उसका दिग्दर्शन करने का यत्न किया गया है। पाश्चात्य दार्शनिक यद्यपि सौन्दर्यशास्त्र का निरूपण करते हुए विभिन्न मतों का परिचय देते हैं तथापि उनके मतों का पर्यवसान भी उपर्युक्त मत में ही होता है। इसे ठीक-ठीक समझने के लिए कुछ पाश्चात्य विद्वानों के मत की संक्षिप्त चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है।

सुकरात सौन्दर्य को उपयोगी सिद्ध करते हैं। जो वस्तु उपयोगी है वही सुन्दर है[1]। वे सुन्दर और हितकर को एक ही मानते हैं। एक विद्वान् प्रज्ञा का किसी विशेष रूप या आकृति द्वारा प्रकाशित होना ही सौन्दर्य मानते हैं[2]। एक अन्य विचारक का कथन है कि भगवान् ही अनन्त सत्य, मंगल एवं सुन्दरता की खान है। वह अपने सौन्दर्य द्वारा वस्तु-समूह की सुन्दरता सम्पादित करता है। एकत्व ही समस्त सौन्दर्य की आकृति है।[3] एक विद्वान् महोदय जीव-जगत का सौन्दर्य-बोध प्रधानतः एकत्व और वैचित्र्य की अधिकता, कोमलता आदि पर निर्भर करते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रकृति के अन्दर से प्रकाशित होने वाली किसी अदृश्य विभूतिशाली शक्ति की अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है। अन्य विद्वान् शेफ्टवरी महोदय सौन्दर्य को वस्तुगत

---

1. A dung basket if it answer its end may be a beatiful thing while a golden shield not well formed for use is an ugly thing".

2. Plotinus says:– "Beaury is the expression of wisdom in particular image or form."

3. Saint. Augstine says :– "Unity is the form of all beauty. Infinite good, truth and beauty are the attributes of the deity and communicated by him to things" ,.

नहीं मानते। समस्त जीव एवं गति को परमात्मा ने उत्पन्न किया है. हमारे अन्दर सौन्दर्य-ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र आन्तरिक वृत्ति है[1]। उपर्युक्त सभी विद्वान सौन्दर्य को उस परमात्मा का स्वरूप मानते हैं। हरवर्ट कहते हैं कि सौन्दर्य किसी वस्तु-विशेष की सत्ता पर निर्भर नहीं करता वह तो स्वाभाविक रूप से हमारे मन में विद्यमान रहता है।[2] कहना नहीं होगा कि सौन्दर्य के अक्षय जगमगाते दीप पर स्वार्थ का गहरा आवरण चढ़ा रहता है। इसी कारण उसका दर्शन नहीं हो पाता। जैफरे महोदय सौन्दर्य को सकाम मनाते हैं किन्तु सौन्दर्य सदा निष्काम होता है। सौन्दर्य-बोध हमें निस्वार्थ आनन्द प्रदान करता है। अतएव प्रतिकार-सम्बन्ध ही सौन्दर्य का रूप है। इन्द्रिय-जन्य सौन्दर्य अथवा केवल मनोवेगात्मक सौन्दर्य ही क्षणिक हो सकता है। या यों कहिए कि वहां सौन्दर्य है ही नहीं, केवल आभास मात्र है जो सौन्दर्य के सत्य प्रकाश में तिरोहित हो जाता है। "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"—जो प्रतिपल अभिनव और चिर नूतन सन्देश देता है वही सौन्दर्य है और ऐसा सौन्दर्य सकाम नहीं हो सकता। शेलिंग का कथन अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। उनके विचार से अनन्त का सान्त रूप में प्रगट होना ही सौन्दर्य है।[3] यदि किसी वस्तु के सौन्दर्य पर हम सकाम हृदय से रीझ गए तो उसकी प्राप्ति की इच्छा बलवती हो उठेगी और अधिकार हो जाने पर उसका सौन्दर्य घट जायगा। अतः सौन्दर्य को सकाम कह कर उसके विश्वव्यापी विराट् रूप को संकुचित एवं परिमित कर देना है। सौन्दर्य का उपभोग हम तृप्ति एवं शान्ति के साथ करते हैं। वे वस्तुएं हमारे अधिकार में नहीं होती पर हमें आनन्द देती हैं। सौन्दर्य वही है जो सबको एक सा आनन्द

---

1. Shafts Bury:—"Whatever in nature is beautiful is only the faint shadow of the First Beauty, Beauty and God are one and the same".

2. Herbert

3. Shelling

प्रदान करता है।[१] एक अन्य विद्वान कहते है कि सौन्दर्य मायारूपी माध्यम द्वारा दिखाई पड़ने वाला अपना प्रतिविम्ब है, यह आत्मा का प्रतिविम्ब है। यद्यपि प्रतिविम्ब सत्य नहीं कहा जा सकता पर असत्य भी नहीं है क्योंकि प्रतिविम्ब सत्य का ही है।[२] एक अन्य विचारक की दृष्टि से आत्मा का इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों द्वारा अपनी आत्मा को व्यक्त करना ही सौन्दर्य है[3]। वास्तव में आत्मा से जो वस्तु जितने समीप होगी वह उतनी ही सुन्दर होगी। मनुष्य अपनी आत्मा के अंश, अपनी सन्तानको अत्यधिक प्यार करता है, उसे वहीं सौन्दर्य परिलक्षित होता है। रवि बाबू ने जन्मकथा नामक कविता में लिखा है: ।

खोका मां के शुधाय डेके

एनाम आमि कोथाय थेके।

कोन खाने तुइ कुड़िये पेलि अमारे ? मां शुने कय हंसें केंदे।
खोकार तार बुके बेघे ॥

इच्छा हये छिलि मनेर मांझारे

शिशु ने अपनी मांसे पूछा...मां मैं कहां से आया ? तूने मुझे कहाँ से पाया ? मां ने बालक को हृदय से लगा कर कहा:—तू मेरी इच्छा होकर मन में रह गया था बेटा।

जब कभी भौतिक सौन्दर्य अपने आप को हमारी दृष्टि के सामने सहसा व्यक्त करता है तभी वह हमें इच्छा के दासत्व से, चाहे क्षणमात्र

---

1. Kant:—"That is beautiful which pleases, which pleraes all, which pleases without interest and without concept and pleases necessarily." (Vide Waber's History ot Philosophy).
2. Goethe:—"Beauty is neither light nor darkness, it is twilight, the medium between truth and untruth"
3. Hegel says:—"The beautiful is the spritual making itself known Sensuously".

के लिए ही हो, मुक्त करने में समर्थ हो सकता है। इस प्रकार शनैः-शनैः समस्त प्रकृति हमारे लिए सुन्दर हो उठेगी। यदि हममें यह शक्ति जागरित हो जाय तो हम प्रकृति के अन्तस्तल में निहित भगवद्प्रज्ञा का साक्षात्कार कर लें। संसार के किसी रहस्य-सागर की गोद में सौन्दर्य का जन्म हुआ और विश्व-सौन्दर्य के मध्य रह कर हमने उस अखंड सत्ता का अभास प्राप्त किया।

सुर सभा तले जब नृत्य करो पुलके उल्लसि
हे विलोल हिल्लोल उर्वशी।
छन्दे छन्दे नाचि उठे सिन्धु मांझे तरंगेर दल
शस्य शीर्ष शिहरिया कांपि उठे धरार अंचल
तब रतन हार हते नभस्तले खसि पड़े तारा
अकस्मात् पुरषेर वक्षोमांझे चित आत्महारा।
नाचे रक्तधारा।
(रवीन्द्रः — उर्वशी)

जब देवताओं की सभा में हे उर्वशी तुम नृत्य करती हो तब सागर की तरंगे ताल ताल पर नाच उठती हैं। धरित्री का अंचल सिहर-सिहर उठता है। तुम्हारे वक्षस्थल के हार से व्योम में तारिकाएं बिखर जाती हैं। इतना ही नहीं विश्व-वासना के खिले कमल पर तुम्हारे पद-पद्म स्थित हैं और तभी कौतूहल से कवि पूछ उठता है—

कोनो काले छिले ना मुकुलिका बालिका वयसि
हे अनन्त यौवना उर्वशी!
(वही)

हे अनन्त यौवना! क्या तुम कभी बालिका भी रहीं। सौन्दर्य का मार्ग सुगम है, सरल है, मनुष्य में सौन्दर्य से अविच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित कर रखा है। सौन्दर्य-कौतूहल "कौन" कह कर प्रश्न करता है। जिज्ञासा प्रबुद्ध होकर "क्या"? कह उठती है। रूप से मन-मोहित हो जाता है, तन्मयता सब शंकाओं का समाधान कर देती है। सौन्दर्य-बोध के कारण

ही हम ईश्वर से प्रेम करते हैं, ज्ञान उससे दूर रह कर अनुसंधान मात्र करता है। पर कवि के यहाँ साध्य सौन्दर्य स्वयं साधन बन जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सौन्दर्य अनन्त है, व्यापक है तथा समस्त कार्यों में सन्निहित है, उसे जीवन और जगत् से भिन्न देखना अनुचित है, अज्ञता है, अपराध है।

मनोवैज्ञानिक

सृष्टि अनन्त है, जीवन अनन्त है और अनन्त हैं हृदय की भावनाएं। जाने कब से नित नूतन भावनाओं की सृष्टि हो रही है और होती रहेगी। मानव जीवन आबध गति से चल रहा है और प्रत्येक जीवन अपनी एक अलग विशेषता लिए हुए, अपने को किसी न किसी रूप में भिन्न सत्ता प्रदान किए हुए चला जा रहा है। इसी विभिन्नता से, इसी विषमता से संसार में असामान्य समता है। इस वैचित्र्य में, इस विभेद में भी एक अदृश्य एकता, एक गूढ़ समता और एक विचित्र कौतूहल है। क्योंकि इनका प्रणेता एक ही है। इन अनेकानेक सूत्रों का संचालन एक ही मूल द्वारा हो रहा है। उस संचालक की जिज्ञासा होने पर, विश्व एक स्वर से कहेगा कि वह शक्ति सत्, चित्, आनन्द ब्रह्म की ही शक्ति है, परमात्मा का परम प्रकाश है जिस से विश्व उद्भासित हो रहा है, मानव में समरसता विद्यमान है। किन्तु यह एक स्थूल विवेचन है जिसकी गहनता में साधारण व्यक्ति खो सकता है। प्रश्न हो सकता है कि ऐसी कौन सी वस्तु है, कौन सी प्रेरणा है, कौन सी शक्ति है, जो जीवन में स्फूर्ति भर देती है, आनन्द की मृदुल हिलकोर उठा देती है, अन्तस्तल द्रवित सा हो उठता है और जीवन की विषमताएँ तिरोहित हो जाती हैं। वह लघु जीवन जो मानसिक दुर्बलताओं के कारण अति दीर्घ, कारागार-सदृश नीरस एवं कटु प्रतीत होता है, सहसा किस आह्लाद से प्रेरित हो कर निमिष सा लघु हो उठता है। इन जिज्ञासाओं का उत्तर है अनन्त ब्रह्म का परम व्यापक सौन्दर्य-प्रवाह। इस सृष्टि का मूल कारण वही सौन्दर्य है। मानव के उत्थान का इतिहास उसी सौन्दर्य का इतिहास है।

सौन्दर्य जीवन के रोम–रोम में व्याप्त है क्यों कि आत्मा ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म स्वयं परम सुन्दर, परम आत्मा है। जो निर्मल निःस्वार्थ स्थली आत्मा को रुचती है, जहां वह रम जाती है, जहां वह अपना चिर नीड़ बना कर बस जाना चाहती है, वही सुन्दर है, वहीं सौन्दर्य है। प्रकृति भी उसी परम आत्मा की पुनीत झलक है, अतः सुन्दर है। प्रकृति की नाना चेष्टाएँ देख कर ही हमारी वृत्ति इतनी ऊँची उठ जाती है कि हम उस महान् कलाकार की गाथा गाते नहीं थकते, मानव जीवन की घटनाएं और प्रकृति की सौन्दर्यमयी चेष्टाएँ हृदय को थपेड़े दे दे कर भाव-प्रवण बना देती हैं। जब बाह्य जगत् की कुतूहल-समन्वित अवस्थाएँ हृदय में अभिव्यक्ति के लिए एक विचित्र व्यग्रता अविष्कृत करती हैं, सौन्दर्य-समन्वित रूपों में सौन्दर्य-समरस मानव-हृदय तद्रूपता का अनुभव करता है तभी उसकी चेतना जाग उठती है। अंग–प्रत्यंग विह्वल हो उठता है और वह इनके विस्तार के लिए, इन्हें बाह्य रूप प्रदान करने के लिए, जगत् को आनन्दानुभूति कराने के लिए गा उठता है, अपना हृदय निकाल कर रख देता है, नीरस तूलिका के सहारे सरस भावनाओं को प्रस्फुटित कर देता है, आत्मा की सजीव कर मूर्ति गढ़ता है। जहां कहीं सौन्दर्य को सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में पकड़ सकता है वहीं उसका एक स्मृति-चिन्ह रख देता है। हृदय की उन्मुक्त उदार आकृति अपने अनुरूप सौन्दर्य का सर्जन कर लेती है। जिस व्यक्ति का हृदय जितना उदार एवं विस्तृत होगा उस में सौन्दर्य वैसा ही विशाल आकार धारण कर उपस्थित होगा। चित्तवृत्ति जितनी ही संकुचित होती है, सौन्दर्य उतना ही लघु, उतना ही परिमित एवं उतना ही अन्तर्निहित सा हो उठता है। इस दृष्टि से सौन्दर्य की व्यापकता कम नहीं हुई वरन् बढ़ गई। सौन्दर्य प्रत्येक मानव हृदय में विद्यमान है एवं उस प्रकाश के सदृश है जिसको जाने कब से अखंडज्योति जगमगा रही है, मानव हृदय को आलोकित कर रही है। किन्तु कस्तूरी-मृग के सदृश वह स्वयं अपनी ज्योति देख नहीं पा रहा है, क्यों कि उस पर असंयम, अस्वास्थ्य, दुर्भावना, कुसंस्कार एवं अशिक्षण का गहरा आवरण

चढ़ा हुआ है। जो इन सब से परे है, इन सब से ऊँचा उठ चुका है वह प्रतिपल नवीन सौन्दर्य, अद्भुत प्रकाश और नित नवीन अनुभूति प्राप्त करता है। क्यों कि प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ अपने पारलौकिक सौन्दर्य का ज्वलन्त-प्रमाण है। हमारी समस्त कलाएँ इसी सौन्दर्य का ही अभिनव प्रकाशन है। सौन्दर्य की भावमय सत्ता को मुखरित करने का नाम ही संगीत है। उसके भाव, अपरिमित संकेत और उस असीम को एक विशेष रूप में, एक निश्चित अर्थ के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास ही चित्र है, उसी से मांस-पेशियों का उभार और विस्तार दिखा कर सूक्ष्मातिसक्ष्म धमनियों को मूर्त कर देने की क्रिया ही मूर्ति-कला है। मूक, प्राण-हीन शरीर में भाषा और गान भर कर प्राणों का नवसंचार कर देना ही काव्य है।

सौन्दर्य विशेषतः मानसिक भित्ति पर निर्भर करता है। हमारी सौन्दर्यानुभूति हमारी मानसिक वृत्तियों से, मानसिक परिस्थितियों से ही बनती हैं,[१] दूसरे, मानव-स्वभाव सदा से मनोनुकूल पदार्थों की सृष्टि किया करता है।

जाकी रही भावना जैसी।
तिन प्रभु मूरत देखी तैसी।

(मानस)

सौन्दर्य की अखंड सत्ता समस्त मानव-विकारों से दूर स्थित है एवं वह अपने आप में ही परिपूर्ण है, समस्त प्रयोजनों से परे है। उसे देखने के लिए, समझने के लिए उन्मुक्त एवं सरल हृदय की आवश्यता है। जब तक निरीह शिशु के सदृश, पूर्ण आत्म-विश्वास से विरुद्ध होकर मानव, प्रकृति के अंचल में खो न जायगा तब तक प्रकृति में उसे सौन्दर्य की भुवन-विमोहिनी झांकी कभीं परिलक्षित न होगी।

नह माता नह कन्या नह बधू सुन्दरी रूपसी
हे नन्दनवासिनी उर्वशी।

(रवीन्द्र–उर्वशी)

---

1 "A feeling is the feeling of self-activity in an object of Sense".

कहने का तात्पर्य है कि सौन्दर्य सरल है, उसे तर्क की कटु कसौटी नहीं चाहिए, उसे चाहिए सहृदयता का माधुर्य, भावुकता का दुलार और उदारता का प्यार। तभी एक विद्वान् सौंदर्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए उस कोमल पदार्थ को विकृत करने के भय से बोल उठे 'मैं सौंदर्य को जानता हूँ और उसकी मोहकता देखता भी हूँ, पर पूछे जाने पर मैं बता नहीं पाता'।

इस उत्तर में कोई बौद्धिक प्रमाण नहीं किन्तु भोलेपन की मधुरता है, सरलता की रमणीयता है।

मन पर अधिकतर विभिन्न इन्द्रियों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। मनुष्य की सहज सुलभ प्रवृत्ति रूप, रस, गन्ध की ओर आकृष्ट होती है और उसी सुख को सच्चा सुख मान बैठती है। किन्तु क्या इससे यह तात्पर्य निकलता है कि मन का सुख ही सच्चा सुख है, उसकी तृप्ति ही सुख की चरम सीमा है, वही सुन्दर है, क्या उसी में सौन्दर्य है? कदाचित नहीं, क्यों कि मन की तृप्ति कभी होती ही नहीं। वह तो केवल क्षणिक सन्तोष का अनुभव करता है:—

"न जातु कामः कामनां उपभोग्येन शाम्यति"।

स्थूल इन्द्रिय-जन्य सुख भी स्थूल होगा, जो कभी अपनी अमिट स्मृति अंकित नहीं कर सकता। किसी न किसी दिन बुद्धि उसे अस्वीकार कर देगी और उसका महत्व गिर जायगा। सौन्दर्य का स्वरूप इन्द्रियज्ञात भी है और अतीन्द्रिय भी, उसका साक्षात्कार भी प्रायः स्थूल रूप से तीन साधनों द्वारा हुआ करता है। ज्ञानेन्द्रियों से, बुद्धि से और हृदय से। किसी रमणीय एवं सुन्दर पदार्थ को देख कर नेत्र विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। उस सुधा का निरन्तर पान करना चाहते हैं, हृदय उसके द्वारा आनन्द की उपलब्धि करता है। बुद्धि, नेत्र और हृदय दोनों का समर्थन करती है। जिस स्थान पर इन तीनों का समविन्त रूप उपस्थित होता है वहीं वास्तविक सौन्दर्य है अन्यथा सौन्दर्य एकांगी है और उसकी भित्ति अस्थिर है। जिस स्थान पर सौन्दर्य पूर्ण विकसित होता है वहीं पर मृदुल प्रसून अपने वर्ण-गन्ध की अधिकता को फल की गंभीर मधुरता में परिणत कर देता है। उस चरम विकास में ही सौन्दर्य और मंगल का मिलाप होता है। गुलाब के पुष्प की कोमल-कोमल

पंखुरियाँ, उसके रूप-रंग, बरबस नेत्रों को आकृष्ट कर लेते हैं, उसकी सुरभि घ्राणको और उसका मृदुल स्पर्श त्वचा को उल्लास से भर देता है, परम आनन्द की उपलब्धि होती है, सहसा हृदय उस कलाकार की कला पर विमुग्ध हो उठता है। किन्तु तभी बुद्धि उसे विकृत देख कर विक्षुब्ध हो उठती है, जड़ता का अनुभव करती है एवं निराश होकर किसी जीते-जागते सुन्दर मुख पर अथवा शिशु की भोली आकृति पर टिक जाती है, तभी तो कवि प्रसाद भी उमंग से कह उठते हैं—

> उज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।
> जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं।
>
> (कामायनी)

इन्हीं तीनों का समन्वय हरिश्चन्द्र जी की सरल कविता में भी देखिए:—

> उमडि उमडि दृग रोवते अधीर भए
> मुख द्युति दृग पीरी पीरी बिरह महा भरी।
> हरिचन्द्र प्रेममाती मनहुँ गुलाबी छकी,
> काम-झर-झांवरी सी द्युति तनु की करी।
> प्रेम कारीगर के अनेक रंग देखो यह,
> जोगिया सजाये बाल बिरछि तरे खरी,
> अखियां में सांवरो, हिये में बसे लाल वह,
> बार-बार मुख ते पुकारत हरी हरी।

जीवन में अनेक क्षण ऐसे आते हैं जब सदा से प्रिय वस्तु अनायास हमें विक्षुब्ध करने लगती है! वही मुखमंडल, वही आकृति, जो कभी सौन्दर्य की प्रतिमा रही थी सहसा विषमयी प्रतीत होने लगती है, और असुन्दर वस्तु, जिसे स्थूल चर्म-चक्षुओं ने अपनी दृष्टि से असुन्दर मान लिया था, हृदय को आनन्द देने लगती है। वही प्रकृति, वही नवयौवना वसन्त-श्री-युक्ता प्रकृति नव हरित कोमल पल्लवों से सुसज्जित कभी मिलनोत्कंठिता सी प्रतीत होती है, पत्तों का कोमल मर्मर उसका उल्लसित गान सा प्रतीत होता है, कभी वही प्रकृति झुलसी हुई सी, पीड़ित सी, प्रताड़ित सी किसी

अव्यक्त करुणा में डूबी हुई सी प्रतीत होती है। कभी चंचला की चमक हृदय में उल्लास भर जाती है, कभी वह विद्युत्-वेग हृदय को अस्पष्ट भय से, आशंका से झकझोर जाता है। दोनो ही तो सुन्दर हैं, दोनों में ही अनुभूति की सरसता है,किन्तु इनको परखने वाली बुद्धि, समझने वाला हृदय और संवेदनशील प्रवृत्ति स्वस्थ नहीं। प्रत्येक हृदय जगत् में अपना ही प्रतिविम्ब देखना चाहता है। पीड़ित हृदय पुष्पों पर विखरे हुए जलकणों को रजनी के अश्रु समझ कर चुनता है, जब कि उल्लसित हृदय उनसे हास के निर्मल मुक्ता बटोर लाता है। सयंत होकर, विशुद्ध होकर सौन्दर्य की अनुपम झांकी देखने वाले विश्व-प्रकृति में सर्वसौन्दर्यमय का रूप प्रतिविम्बित पाते हैं। सागर की लोल लहरियों में, आकाश के महान् विस्तार में, ऊषा की अरुणाई में, पत्रों के मधुर मर्मर में, पिक की कल कूक में सर्वत्र सौन्दर्य का वह विराट् रूप देख कर विमुग्ध हो उठते हैं। उनके लिए जगत् के कण-कण सुन्दर हैं, मोहक हैं और आह्लाद-जनक है।

मुकुल मधुपों का मृदु मधुमास, स्वर्ण सुख श्री सौरभ का सार
मनोभावों का मधुर विलास, विश्व सुषमा का ही संसार।
....

अरुण अधरों का पल्लव पात, मोतियों सा हिलता हिम वास
इन्द्रधनुषी पट से ढक गात, बाल विद्युत् का पावस लास
हृदय में खिल उठता तत्काल, अधखिले अंगों का मधुमास
तुम्हारी छवि का कर अनुमान....

प्रिये प्राणों की प्राण।
(गुंजन, पृ० ३३)

अतः सौन्दर्य के निष्पक्ष दर्शन के लिए वही व्यक्ति उपयुक्त है जो शुद्ध हो, शुद्ध भावना के नैसर्गिक संकेत को समझने में समर्थ हो सके। सौन्दर्य संकेत मात्र करता है, भावक उसे अपनी भुजाओं में जकड़ लेना चाहता है। या यों कह सकते हैं कि वह स्वतः उसमें लिपट सा जाता है और फिर

'अपने मधु से लिपटा भ्रमर न कर सकता गुन-गुन' वाली अवस्था हो जाती है। 'स्व' से से हट कर अभेद और आत्मीय दृष्टि से संसार को देखना ही सौन्दर्य है। क्यों कि।—

सौन्दर्यमयी चंचल कृतियां बन कर रहस्य है नाच रहीं
मेरी आखों को रोक रहीं, आगे बढ़ने में जांच रहीं
(कामायनी पृ० ५५)

सौन्दर्य का व्यापक आकर्षण नेत्रों को विमुग्ध कर रहा है। इस विराट् विश्व के उस महान् शिल्पी ने प्रत्येक कण को सुन्दर बनाया है, जीवन सुन्दर है, मरण सुन्दर है, सुख-दुख के आवरण सुन्दर हैं, अश्रु, हास, पीड़ा, उल्लास, शिशिर मधुमास, गौरवपूर्ण और कुत्सित सब में सौन्दर्य है, किन्तु उसके परमार्थिक रूप को समझने के लिए, उसे परखने के लिए एक स्वस्थ, विकार-रहित उदार चित्त की आवश्यकता है। स्वार्थयुक्त हृदय में सौन्दर्य की उदार छाया कभी प्रतिविम्बित नहीं हो सकती। इसी से कहा जाता है कि सौन्दर्य बहुत कुछ मानसिक एवं शारीरिक कारणों की भी अपेक्षा करता है। कहना नहीं होगा कि मानव सर्वत्र अपनी हृदयानुरूप परिस्थिति देखना चाहता है। इसके विपरीत यदि उसकी भावनाएं अपनी अनुरूपता नहीं पाती तो वह ऊब कर चारों ओर नैराश्य ही पाता है। यही उसका असुन्दर है। असन्तोष ही असुन्दर हो उठता है, जैसे—

"कई दिनों की बासी मिठाई एक ऐसे व्यक्ति को दी जाय जो नित्यप्रति उससे कहीं अच्छी एवं मधुर मिठाई खाता है तो वह अवश्य ही नाक-भौं सिकोड़ कर उसे फेंक देगा। किन्तु यदि वही मिठाई एक आजन्म कारावास का दंड पाए किसी भूखे को दी जाय तो वह भोजन की अनन्त प्रशंसा करने लगेगा, उसका सौन्दर्य-गान करने लगेगा, आशीर्वचनों का तांता बाँध

1. Aesthetic pleasures have physical conditions, they depend on the activity of the eye and the ear, of the memory and the other ideal functions of the Brain"....Ruskin.

देगा, उसकी आत्मा तुष्ट हो उठेगी।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्य उस मिठाई में नही वरन् प्राप्त करने वाले की परिस्थिति, संस्कार और इच्छा की अनुकूलता में है। इसी प्रकार कभी-कभी शत्रु के गुण भी हमें अवगुण प्रतीत होते हैं। कभी-कभी क्यों, 'शत्रोरपि गुणा वाच्या:' का पालन करने वाले विरले ही मिलते हैं। जो वस्तुएं हमारी कामना के अनुकूल होकर उसकी पूर्ति करती हैं उनसे स्वभावत: हमें प्रेम हो जाता है। किन्तु ये वस्तुएँ सुन्दर न होकर प्रीतिकर कही जा सकती हैं। अत: इनका आनन्द सकाम है। शुद्ध सौन्दर्यानुभव राग-द्वेष से परे स्वस्थ्य अन्त:करण की अनुभूति है। राग-द्वेष के रहते हमें विशुद्ध सौन्दर्य का अनुभव नहीं हो सकता। तभी एकबार सेन्ट अगस्टाइन पुकार उठे थे[1]—

"भगवन्! तुम्हारे सौन्दर्य ने मुझे तुमसे मिला दिया था पर मैं अपने ही बोझ के कारण पीछे खींच लिया गया।" जीव का बोझ उसका अपना राग है। भूल से अन्यत्र लगी हुई इच्छा का खिचाव है।

जब सौन्दर्य और मंगल के सम्मिलन का स्वरूप मनुष्य हृदयंगम कर लेता है तब उसके सामने अच्छे-बुरे का प्रश्न ही नहीं आता। उसके संमुख मुस्कराता, खिलखिलाता सौन्दर्यमय विश्व आकर खिल उठता है—

सुन्दर मृदु मृदु रज का तन
चिर सुन्दर सुख दुख का मन
सुन्दर शैशव यौवन रे।

(गुंजन, पृ० २१)

वस्तुत: सौन्दर्य-तत्व की उपलब्धि अपने विशुद्ध रूप में आवश्यकताओं की संकुचित सीमा के बाहर ही होती हैं।

अत: स्वस्थ मस्तिष्क के अतिरिक्त सौन्दर्य-दर्शन के लिए संयत मनो-

---

1. St. Augstine says:– "I was cought up to thee by The Beauty but dragged back again by my own weight." The weight of the Soul is its Love– – the pull of a misplaced desire.

वृत्ति की भी आवश्यकता है। उसके बिना सौन्दर्य का रूप दृष्टिगत नहीं होता। राग, द्वेष, वासना और स्वार्थ के कलुष से दूर स्वस्थ मानव मस्तिष्क और हृदय ही वास्तविक सौन्दर्य का अनुभव कर सकता है। भोग अथवा अधिकार की वांछा से, जब मनुष्य की प्रवृत्ति उग्र हो उठती है तब उसकी आंखें भी सौन्दर्य देखने की शक्ति खो देती है। उन पर लिप्सा का आवरण पड़ जाता है। पार्वती ने मदन की जब सहायता ली तब उन्हें निराश होना पड़ा, दुष्यन्त और शकुन्तला जब तक उत्तेजक सौन्दर्य के वशीभूत थे तब तक कष्ट भोगते रहे, अभिशप्त हुए। यक्ष को भी इसी प्रकार निर्वासित होना पड़ा। पुरूरवा जब वासना के वशीभूत हुआ तब उर्वशी का साहचर्य छोड़ने को बाध्य हो गया। जब तक वह लालसा से दूर था, प्रियतमा को शरीरिणी देखता रहा। पर विरह के अनुताप में जब उसकी सारी वासनाएँ जलकर भस्म हो गईं तब वह उर्वशी को तरु-लता आदि में यत्र-तत्र देखने लगा, बन में खिले हुए प्रसूनों को देख कर उसे भान हुआ—

"आरक्तकोटिभिरियं कुसुमैर्नवकन्दलीमलिनगर्भैः।
कोपादन्तर्बाष्पैः स्मारयति मां लोचने तस्याः"।

अर्थात् सुमन का अरुण किनारा और मध्य का कृष्ण भाग प्रियतमा के क्रोधित लाल नेत्रों का स्मरण दिलाते हैं।

मदखेलपदं कथं नु तस्याः
सकलं चौरगतं त्वया गृहीतम्।

मेरी प्रियतमा की मनोरम गति तुमने क्यों चुरा ली।

जिस भांति हमारे स्वार्थ की सीमा और हमारी मनोवृत्ति हमारी सौन्दर्य-दृष्टि को परिचालित करती है उसी भांति शिक्षा, संस्कृति और संस्कार भी सौन्दर्य-धारणा का परिचालन करते हैं। हमारी शिक्षा-दीक्षा जैसी हुई है, जैसे वातावरण में हमारा लालन-पालन हुआ है, जिस प्रकार की मनोवृत्ति के मध्य हमारा जीवन व्यतीत हुआ है, जिस ढंग की रूढ़ि और परम्परा की विचार-धारा हमारे सामने प्रवाहित होती रही है, जिस संस्कृति और इतिहास के प्रभाव से हमारे हृदय की प्रवृत्तियां प्रभावित और

संस्कृत होती रही हैं, उन सबका प्रभाव हमारी स्थूल सौन्दर्य-भावना के सिद्धान्त-निर्धारण में पड़ता रहता है; जैसे भारतीय सौन्दर्य भावना कृष्ण स्निग्ध कुंचित केशों पर मुग्ध होती है तो इग्लैंड की सौन्दर्य-प्रियता सुनहले शुष्क, बिखरे हुए बालों पर रीझ जाती है। अफ्रीका-निवासी कोलतार से काले वर्ण में, मोटे-मोटे काले होठों में, चिपटी फैली हुई नाक में ही सौन्दर्य की अनुपम झांकी देख लेते हैं जब कि उन्हें देख कर हमें भय और क्षोभ से घृणा सी हो आती है। इसी प्रकार अनेक दृष्टान्त दिए जा सकते हैं, जो देश, काल संस्कार, शिक्षा आदि के स्पष्ट प्रमाण हैं।

मानव की सौन्दर्य-प्रियता

मानव सृष्टि के प्रारम्भ में किसी दिन एकाएक आह्लाद से पुलकित हो उठा होगा, किन्तु इस पुलक का कारण स्पष्ट होकर भी रहस्य ही बना रह गया। कभी वह भोले बालक सा निरीह प्रश्न पूछ बैठता है, कभी कतूहल से पुलक का कारण जानना चाहता है। शनैः-शनैः अच्छा लगना, रुचना, प्रिय लगना उसे प्रिय लगने लगे। अपने प्रिय पदार्थ को वह सुन्दर कह उठा और तभी से विचार और बुद्धि में प्रौढ़ होने के साथ उस सौन्दर्य का रहस्य जानने के लिए मचल उठा। इसी रहस्य के उद्घाटन में मानव-उत्थान के विकास का इतिहास निहित है। जीवन धारण करने के लिए भोजन आवश्यक है, अतः खाद्य पदार्थ खोज लिए गए। किन्तु उनकी बहुलता भी होने लगी।

इस विचार के आते ही विद्वान कहने लगते हैं कि उपयोगी होना ही सौन्दर्य है। वस्तुतः केवल यही पूर्णतया सौन्दर्य नहीं, यह तो सौन्दर्य का केवल एक अंग है। मनुष्य ने उपयोगिता एवं आवश्यकता की पूर्ति के लिए जिन वस्तुओं का निर्माण किया उनमें आवश्यक की अपेक्षा अनावश्यक मानने का ही आधिक्य है। उदराग्नि मोटी–मोटी रोटियाँ खाकर भी शान्त हो सकती है। टूटे-फूटे पात्र, घृणित स्थान सभी क्षुधा-निवृत्ति में साधक ही हैं बाधक नहीं। किन्तु मानव इस उदर-तृप्ति से

सन्तुष्ट न हो सका, उसकी मनस्तृप्ति भी आवश्यक थी, बुद्धि की तृषा भी बुझनी चाहिए थी। सहज सौन्दर्य-पारखी बुद्धि ने परिष्कार किया। पतली-पतली रोटियां बनने लगीं, स्वच्छ चमकते हुए भाजनों में भोजन सुरुचिकर प्रतीत हुआ, बैठने का स्थान स्वच्छ और रमणीय होने लगा। एक साधारण सी क्षुधा निवृत्ति के लिए यह खटराग, इतना बड़ा प्रपंच ! वृक्षों की शाखाओं पर लटके रहने वाले, कंकड-पत्थरों पर शयन-सुख लेने वाले मानव की कुटियाएं बनाईं गईं। शीत, वर्षा, आतप से शान्ति मिली किन्तु तब भी वह उत्तरोत्तर सौन्दर्य-पारखी होता गया। कुटिया को हरित बेलियों से, मृदुल प्रसूनों से सुसज्जित कर आत्म-तोष प्राप्त किया। ताजमहल अथवा मीनाक्षी के मन्दिर को हम सुन्दर क्यों कहते है ? क्या केवल इसलिए कि उसमें एक स्त्री का जड़ शरीर विश्राम पा रहा है ? कदाचित् उस शव के लिए दो गज भूमि भी पर्याप्त थी। यदि ऐसा बनाना था कि दूर से दिखाई पड़े तो उस पर ट्रक ऊंची सी मीनार बना देना पर्याप्त था। उपयोगिता तो यहां ही समाप्त हो जाती है, किन्तु वह कीर्ति, वह प्रभावशीलता कहीं न सुनाई देती। तब कदाचित् प्रेम का वह भव्य व्यापक, स्वरूप खड़ा न हो पाता। तब कौन उस साधारण सी मीनार को देख कर कहता कि यह सम्राट् के पुनीत प्यार का भव्य प्रतीक है। यहां भी सम्राट् की हृदय-तृप्ति, आनन्द-कामना और सन्तोष की भावना जागरूक है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने उसी सौन्दर्य-चेतना को और भाव-प्रवण बना डाला है। वह कहते हैं—

"चादनी रात में अपनी प्रियतमा को हे सम्राट् ! जिस नाम से धीरे-धीरे पुकारा करते थे वह पुकारना यहां अनन्त के कानों में छोड़ गए। प्रेम की करुण-कोमलता सौन्दर्य के प्रशान्त प्रस्तर खंडों पर खुदे हुए फूलों में फूट उठी है। सम्राट्-कवि ! तुम्हारे हृदय की यह छवि है ! नवीन मेघदूत है, यह जो अपूर्व एवं अद्भुत छन्दों और गानों से अलक्ष्य की ओर उठ रहा है। यहां तुम्हारी विरहिणी प्रियतमा प्रभात की लालिमा से क्लान्त, सन्ध्या की दिगन्तव्यापी मार्मिक निश्वास-पूर्णिमा की चमेलियों के लावण्य-विलास

ने भाषा के उस अगम तट पर, जहां से भिखारी के नेत्र लौट कर चले आते हैं, मिली हुई है। तुम्हारा यह सन्देश-दूत युग-युग से कालचक्र को रोक कर, मूक होकर तुम्हारा सन्देश ढोता आ रहा है। प्रिये मै तुम्हें भूला नहीं हू"।

उक्त वर्णन स्पष्ट कर देता है कि सौन्दर्य केवल आवश्यक अथवा एक सुखकर वस्तु ही नहीं वरन् अभिव्यंजक भी है, आत्मा की उत्प्रेरणामयी प्रतिक्रिया है। और इसी के लिए इसका सुख आनन्द है। आवश्यकता हमारी आवश्यकता है। उसके परे जो कुछ है वह हमारा लाभ है। फल से हमें भूख शान्त करने मात्र की अभिलाषा नहीं, अपितु उसके स्वाद, रूप और गंध में हम सौन्दर्य भी चाहते हैं। समस्त प्रकृति में एक अनन्त सत्य निहित है और यह सत्य हम प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध कर लेते हैं, क्यों कि वह इन्द्रियगोचर है। अतः इन्द्रिय द्वारा ज्ञात सौन्दर्य अत्यन्त स्पष्ट होता है। किन्तु क्या सौन्दर्य की सीमा वहीं समाप्त हो जाती है। प्रकृति का कुछ अंश ऐसा भी है जो प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्यों को प्रभावित करता है। इस प्रभाव को बुद्धि स्व-तत्व में लीन कर लेती है, तभी सुन्दर और असुन्दर का भेद मिट जाता है और इसके साथ जब कल्याण-बुद्धि की सहायता मिल जाती है तब यह भेद रह ही नहीं जाता।

कला और सौंदर्य

विश्व कवि रवीन्द्र ने कहा है जो सत् है, जो सुन्दर है, वही कला है। सृष्टि में चारो ओर एक चिर सौन्दर्य परिलक्षित हो रहा है, एक चिरन्तन सत्य का आभास मिल रहा है, इसी का व्यक्तीकरण, इसी को कल्पना के उन्मुक्त पंखो द्वारा चारों ओर प्रगट कर देना ही कला है। प्रत्येक वस्तु अपूर्णता से पूर्णता की ओर अग्रसर है, प्रत्येक क्षण हमारा चेतन अथवा अचेतन मन विकास की ओर जाना चाहता है। इसी पूर्णता ने, इसी विकास की चिर अभिलाषा ने कला को जन्म दिया। इसीलिए यदि कहीं भी पूर्णता का आदर्श दिखाई पड़ता है तो वह कला में, क्योंकि कला का निवास-स्थान मनुष्य के उसी अन्तस्तल में है जहां सम्पूर्णता के आदर्श

का अजस्र स्रोत लहरा रहा है। तभी तो बाह्य जगत् में उसकी झांकी पा कर हमारा अन्तःकरण सन्तोष की सांस लेता है। यों तो सम्पूर्णता संसार के लिए स्वप्न की कल्पना है फिर भी जब हम किसी दृश्य अथवा अनुकृति का चित्र अंकित करते हैं तब उसकी सुन्दरता, प्राकृतिक दृश्य अथवा प्रकृत-आकृति से बढ़ जाती है, अधिक मधुर और कमनीय हो उठती। यह क्यों होता है? इसलिए कि दृश्य केवल दृश्य नहीं रह जाता, वह हमारे भोले भाव, कल कल्पना और अक्षय अनुभूति का पुट पाकर सजीव सा हो उठता है। **वस्तुतः जीवन में अनुभूत अथवा अनुभूत्याभास की आह्लादमयी चमत्कार-पूर्ण, जन-मानस-हारिणी अभिव्यक्ति का ही नाम कला है।** किसी वस्तु का यथातथ्य निरूपण अथवा उसका अनुकरण कला कदापि नहीं कही जा सकती। सौन्दर्य को बुद्धि-गम्य और व्यापक बनाने का श्रेय कला को ही है। पर स्वयं कला भी सौन्दर्य की प्रेरणा से प्रगट होती है। प्रकृति के इस उन्मुक्त सौन्दर्य-सीमा में मानव-हृदय जब मुग्ध होकर लुटने लगा और सौन्दर्य-भार का संचय कर स्वयं अभिव्यक्ति के लिए आकुल हो उठा, सौन्दर्य का सुधा-प्रवाह जब उसके रोम-रोम मे भर कर बाहर फूट पड़ने के लिए आकुल होने लगा तब कलाकार का हृदय सौन्दर्य-विभूति को विश्व-मानव के सन्मुख बिखेर देने के लिए चंचल हो उठा। अपने अन्तस्तल की सुषमा की मोहन छवि-मदिरा विश्व को पिलाने के लिए पुलकभार से नत उसके रोम-रोम व्याकुल होने लगे, उसके स्वान्त का सौन्दर्य - मकरन्द विश्व को सुरभि से पूरित कर देने के लिए नाच उठा और तब उसका हृदय सब कुछ भूल कर अपने हृदय की निधि विश्व के संमुख बिखेरने लगा। यही हुआ कला का पावन अवतार जिसकी बहुमुखी दीप्ति से स्वार्थ-तिमिर-कलुषित विश्व-मानव का हृदय-गह्वर तन्मय होकर प्रदीप्त हो उठा। भोले, निष्कलुष सौन्दर्योपासक के सरल, उदात्त हृदय की यही अभिव्यक्ति-विवशता कला है। कलाकार स्वयं सौन्दर्य स्रष्टा नहीं होता वरन् गूढ़ अगूढ़, रहस्य-प्रगट रूप से विश्व में बिखरे हुए सौन्दर्य-कणों को कएत्र

कर मोहक ढंग से उसे सजाकर प्रगट कर देता है। यह कलाकार अथवा शिल्पी की कोई नूतन सृष्टि नहीं है। कुम्भकार ने कोई मृण्मय पात्र बनाया, यदि उसमें हम बेल-बूटे बनाकर सौन्दर्य-वर्धन कर दें तो जिस प्रकार उसके सृष्टि-कर्ता हम नहीं कहे जा सकते, उसी प्रकार प्रकृति ने अपना सौन्दर्य-भांडार विश्व-मानव के सम्मुख उन्मुक्त कर दिया है। कलाविद् उसी सौन्दर्य को फिर से विश्व-मानव के आगे चिर-नूतन, अभिनव, रूप में प्रकाशित कर देता है। विशेषता यही है कि उस अभिव्यक्ति में, उस सौन्दर्य में अपनी अनुभूति, अपनी कल्पना का रंग चढ़ा देता है—यही कला है। अनुभूति वही है, किन्तु प्रदर्शन के ढंग अनेक हैं।

एक फोटोग्राफर भी चित्र उतारता है और एक चित्रकार भी। फोटोग्राफर का चित्र प्रकृत मनुष्य का अनुकरण है, प्रतिच्छवि है, किन्तु चित्रकार की सफलता यथातथ्य चित्रण तक परिमित नहीं, वह अपनी तूलिका को तीव्र अनुभूतिका सहारा देकर वह रंग भर देता है जो मनोभावों का स्पष्ट व्यक्तीकरण है। हृदय के गंभीर से गंभीर स्तरों तक का ज्ञान करा देता है। चित्रकार की कला मनुष्य की सुघटित सुसज्जित देह के भीतर के उस मानव को व्यक्त कर देती है जिसे साधारण दृष्टि से देखना असम्भव है। मानव इसलिए सुन्दर नहीं कि उसके शरीर पर अनमोल वस्त्र लहरा रहे है, आभूषणों से उसकी देह चमक उठी है, उसकी भुजाएँ इस लिए आकर्षक नहीं हैं कि वे अपने जैसे एक अन्य मानव को उठाकर पटक दे सकती हैं अथवा किसी असहाय दुःखी पर प्रहार कर सकती हैं वरन् वह सुन्दर इसलिए है कि उसकी आखों में करुणा का अजस्र स्रोत लहरा रहा है, उनमें चेतना की द्युति है, भावों की दीप्ति है, भावों की मधुरता है, सरसता की मोहकता है, मांस के शरीर में छिपे हुए एक विशाल हृदय की सुन्दरता है, जिसमें दया, स्नेह और ममता जैसे रत्न संचित हुए हैं। किसी जीर्ण कलेवर अस्थि-पंजर मात्रावशेष भिखारी को देखक हम करुणा और हलकी सी घृणा के भाव से भर उठते हैं, उसे अधिक देखने की इच्छा नहीं होती। किन्तु शिल्पी की मूर्ति में जहां अनवरत

अनशन से हड्डियां उभर आई हैं, जीर्ण कंकाल-सार मूर्ति शेष है, हमें आशातीत आनन्द उपलब्ध होता है, क्यों कि सम्पूर्णता के आदर्श-स्वरूप मूर्त्तियों में बुद्ध के शान्त स्वरूप की सौम्यता बड़ी ही मर्मस्पर्शिणी हो उठती है। प्रश्न उठ सकता है कि कला निरन्तर विकास की ओर उन्मुख है और पूर्णता तो उसे कहते हैं जिसके आगे और कुछ न हो। किन्तु इसका उत्तर बड़ा सरल-सा है कि पूर्णता ही तो अन्त है, पूर्णता ही तो मृत्यु है। फिर किसी सत्ता को ससीम क्यों मानें। कला का अन्त नहीं, कला-पूर्णता पाने में नहीं वरन् उसके संधान में है। उसमें अनन्त चिरन्तन का जो आभास है वही कला है। कला में रहस्यात्मकता, जीवन में रहस्यात्मकता खोज लेना ही कवि का ध्येय है[1]। पूर्णता खोजने का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। पूर्णता की आशा हमारी प्रेरणा है, वह हमें जीवन-मार्ग पर अग्रसर करती है, पर है वह स्वयं अप्राप्य मृगमरीचिका सी अभिलाषा-विषयमात्र है जो कभी पकड़ में नहीं आती। कलाकार की आभ्यन्तरिक अनुभूति के सम्मिश्रण से बाह्य जगत् की परिवर्तनशील वस्तुओं भी एक पृथक् सत्ता स्थापित हो जाती है। कवि जिस भाव को रख देता है,[2] उसमें निश्चयता आ जाती। आषाढ़ मास में काले-काले बादलों की क्रीड़ा किसने नहीं देखी, किन्तु विरही यक्ष द्वारा मेघ को सन्देश वाहक बनाने की कामना कालिदास में ही जागरित हुई थी। निरभ्र आकाश और उसमें बिखरे हुए मोती के दाने किसने नहीं देखे किन्तु यह--

> **"तारे तो थे नहीं मेरी आहों से रात की**
> **सूराख पड़ गए है तमाम आसमान में"।**

---

1. Wardsworth "The light which was never on land and Sea. The Conscersation and poets dream.

2 Ascarwilde Says—

The mystical in art, the mystivcal in (Poetry) life, the mystical in nature, *this is what* I am looking for.

—प्रत्येक नहीं सोच लेता। कविवर ठाकुर कहते हैं कि "कुछ इस प्रकार की जड़ प्रकृति के मनुष्य हैं जिनके हृदयों में संसार के अत्यन्त अल्प विषयों के प्रति उत्सुकता होती है, वे संसार में जन्म लेकर भी अधिकांश जगत् से वंचित रहते हैं। उनके हृदय की खिड़कियां संख्या में कम और चौड़ाई में संकीर्ण होती हैं इसलिए संसार के बीच वे प्रवासी से हैं। कुछ इस प्रकार के भी सौभाग्यशाली पुरुष हैं जिनका विस्मय, प्रेम, और कल्पना सर्वत्र सजग रहती है, प्रकृति के कोने-कोने से उनको निमन्त्रण मिलता है। संसार के आन्दोलन उनकी अन्तर्वीणा को नाना रागिनियों में स्पन्दित कर देते हैं"—ऐसे सहृदय व्यक्ति ही कला के अधिकारी हैं जिनका हृदय द्रवित हो सके। अपनी प्रेयसी के निधन पर रोते-रोते स्वयं भी भौतिक कलेवर त्याग कर उसी की स्मृति में विलीन हो जाने वाले अनेक प्रेमियों की कहानियाँ पुराणों, इतिहासों और काव्यों में मिलती हैं। पर उस प्रेम की स्मृति को अमर बनाने की, अपने हृदय की करुणाधारा को विश्व में अभिव्यक्त कर, प्रवाहित कर सभी को उसका साक्षात्कार करानेकी अदम्य लालसा ने शाहजहाँ के कलपते हृदय को इस प्रकार आकुल कर दिया कि निर्जीव पत्थरों के ताजमहल के टुकड़े-टुकड़े मुमताज की याद में आँसू बहाते क्रंदन करते और कलपते जान पड़ते हैं। और वास्तुकलाकी उच्च महिमा में तरंगित शाहजहाँ के हृदय का करुण प्रवाह, पुण्यतम प्रेम, अमर प्रणय और अनंत स्मृति के कल्लोल आज भी सहृदय दर्शकों की आखों में सहानुभूति, विस्मय और कलात्मक आनंद की अश्रुधारा प्रवाहित कर देते हैं। पर हृदयहीनों का हृदय उसमें केवल संसार का एक आश्चर्यमात्र देखता रह जाता है। अतः सहृदयता कला के लिए वांछनीय है, सौंदर्य-शास्त्र का दूसरा नाम कला है। सौंदर्य कलाका सहयोग पाकर निरखता है। जो व्यक्ति अपनी कृतियों में सौंदर्य की सुष्ठु अभिव्यक्ति कर पाता है वही कलाकार है, और जो कला में सौंदर्य का अनुभव करता है वह कलाविद् है।

सौन्दर्य की व्यापकता और परिभाषा

जगत् का अणु-अणु सुन्दर है, जीवन सुन्दर है, मरण सुन्दर है, जागर्ति सुन्दर है, प्रसुप्ति सुन्दर है। प्रत्येक वस्तु यदि एक ओर प्रकाशमयी है एवं उज्जवल होकर अभिभूत करती है तो दूसरी ओर अन्धकारमयी नैराश्य-ग्रस्त होकर उदासीन कर देती है, किन्तु सौन्दर्य की अवस्थिति सदा आनन्दमय है। इस विश्व-सृष्टि में ही विश्व नियंता का वास है। प्रत्येक कण उसकी ज्योति का प्रकाशक है तथापि वह सहजप्राप्य नहीं, उसकी अभिव्यक्ति सहजसाध्य नहीं और इसलिए हम सौन्दर्य की कल्पना कर उसकी उपासना कर, उस परम सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए उन्मुक्त क्षेत्र खोज लेते हैं। पूर्व के पृष्ठों में सौन्दर्य की व्यापकता पर कुछ विचार किया जा चुका है। हम यह देख चुके हैं कि सौन्दर्य आनन्द का ही दूसरा नाम है, अतः उसी के सदृश परम व्यापक है। सौन्दर्य का मार्ग सरल है। किसी वस्तु के प्रति सहज आकर्षण, फिर उसमें तन्मयता का आरोप मानव अपने दैनिक जीवन में ही करता चला आ रहा है। यही तन्मयता जब व्यापक होकर कण-कण का आलिंगन करने को मचल उठती है, प्रत्येक वस्तु से तादात्म्य स्थापित कर लेना चाहती है, 'स्व' और 'पर' का भाव छोड़ कर उदात्त हो उठती है तभी सौन्दर्य पूर्णतया भास्वर हो उठता है, निष्काम आनन्द प्रदान करता है। इसीलिए सौन्दर्य पर मनुष्य की प्रबल आसक्ति है और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वह शक्ति भी है। हम एक दूसरे से किसी अदृश्य सूत्र में आबद्ध हैं। हमने एक दूसरे के प्रति प्रबल आकर्षण में बँधे हैं, केवल चेतन जगत् ही नहीं है, जड़ जगत् भी इसी में लिपटा हुआ है। उदधि का उद्वेलित होकर इन्दु को अपने अंक में धारण कर लेने की प्रबल कामना, सरिताओं का उल्लास से सागर की ओर बढ़ना, लता का वृक्ष के सहयोग से लहलहाना, सबमें एक अज्ञात आकर्षण है, एक दूसरे के प्रति एक अज्ञात ममता, एक अदृश्य मधुर मोहका भाव छिपा है।

इस आकर्षणमें हम देखते है कि पूर्व विवेचित शाश्वत सौन्दर्य की स्थूल अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार कलाकार अपनी अभिरमणीय कला के द्वारा

अपने भावों या प्रकृति के अन्य सुन्दर पदार्थों की अभिव्यक्ति करता है उसी प्रकार प्रकृति भी एक निपुण कलाकार की भाँति उस अविच्छिन्न अव्यक्त, पर व्यापक और चिरन्तन सौन्दर्य-धारा की, भौतिक उपदानों की सहायता से दृश्य जगत् में अभिव्यक्ति करती है। इस भाँति साधारण दृष्टि से सौन्दर्य के दो रूप देखे जाते हैं—पहला दार्शनिक, या सूक्ष्म दृष्टि से जिसे आध्यात्मिक जगत् में हम आनन्द कह सकते हैं, दूसरा भौतिक या स्थूल, जिसे लोक में हम सुन्दर कहते है। दार्शनिक स्वरूप का निर्देश ऊपर हो चुका है। अब देखना यह है कि भौतिक सौन्दर्य से हमारे मन का कितना मेल हैं। वस्तुतः यदि अधिक रहस्यमय दृष्टि से न देखा जाय तो सौन्दर्य का स्थूल रूप और भी व्यापक है। हम एक क्षण के लिए सौन्दर्य से विलग नहीं हो सकते, जो कुछ हम करते है उसे सुन्दर होना चाहिए, जो कुछ हम खाते हैं, पीते है, देखते हैं, सब सुन्दर होना चाहिए। जहां न्यूनता हुई, हृदय उसे देखने के लिए आकुल हो उठता है। कारण यही है कि सौन्दर्य रूप है और रूप पर मानव सदा से रीझता आया है। अन्य गुण तो सम्पर्क में आकर ज्ञात होते है किन्तु रूप दूरसे ही अभिभूत कर लेता है। वहीं हमारी वृत्ति रम जाती है, हमें आनन्द की उपलब्धि होती है। एक विद्वान् महोदय तो सौन्दर्य का उद्बुद्ध और प्रत्यक्ष स्वरूप सच्चरित्रता, संयम और तेज की दीप्ति में ही मानते हैं। कुछ भी हो, इतना तो निर्विवाद है कि केवल रूप का आकर्षण चिर काल तक नहीं रह सकता। क्योंकि उसमें कोई बौद्धिक तत्व नहीं। यदि उसमें आत्मिक अंश भी मिला लिया जाय तो वह शाश्वत हो जायगा।

सौन्दर्योपासना के उच्चतम रूप का विकास हमें अपने धर्म में ही दृष्टिगत होता है। आसक्ति ही भक्ति है। क्या कारण है कि मानव की सहज चित्तवृत्ति निराकार उपासना में नहीं रमती, उसे मूर्त रूप चाहिए, उसके प्रेम का कोई आलम्बन, कोई आदर्श, कोई आधार चाहिए। महान् से महान् कलाकार, भक्त, अथवा दार्शनिक भी किसी भौतिक पदार्थ में ही अनुरक्त हुए हैं, बाद में भले ही वे पार्थिव से अपार्थिव की ओर उठ गए हों,

उनका आलम्बन सदा मूर्त ही रहा है। मानव हृदय को मूर्त रूप चाहिए, और वह भी सुन्दर। सुन्दर कहने का यह तात्पर्य नहीं कि लौकिक दृष्टि से असुन्दर व्यक्ति पर किसी का स्नेह ही नहीं होता वरन् कहना यही है कि दर्शनमात्र से आकृष्ट कर लेने के लिए सौन्दर्य की परिधि बना ली गई है। भावुक हृदय एक टेढ़े-मेढ़े पाषाण को देवता मान श्रद्धा के दो फूल भले ही चढ़ा आए किन्तु जो तन्मयता सुगढ़ मूर्ति के दर्शक को प्राप्त होती है वह अनगढ़ से नहीं होती है। कहने का तात्पर्य केवल यही है कि सौन्दर्य के उन्मुक्त पंख जहाँ तितली की अनुरागिनी आत्मा का नहीं वरन् केवल उसके अनुरंजित बाह्य कलेवर की रंगसाजी का ही प्रदर्शन करते हैं वहाँ वह हमारे चर्म-चक्षुओं को आकृष्ट कर रह जाते हैं, किन्तु सौन्दर्य जब अपने मधुप के से स्वर्ण-पंख फैलाकर, कसक के काटों-काटों से बिध-कर, अनुभूति की मादकता से पग कर, विश्व के पल्लव-पल्लव में छिप कर, आत्माभिव्यक्ति-पूर्ण मधुमय जीवन गुंजार करता है तब वह हमारे नेत्रों तक ही नहीं, कानों तक ही नहीं, मर्मस्थल तक पहुँच जाता है। सौन्दर्य केवल भावुक की कल्पना नहीं वरन् उसकी विदग्धता का परिचायक है। सौन्दर्य केवल मानव की वस्तु नहीं अपितु समस्त चराचर-व्याप्त प्रकृति का श्वांस है, उच्छ्वास है। पशु-पक्षी भी सौन्दर्य-विमुग्ध होकर स्तब्ध रह सकते हैं। सौदर्न्य व्यापक है, जड़-चेतन समस्त जीव-जगत् इसी से अनुप्रेरित है। **किन्तु मानव-अन्तःकरण के आधार पर वस्तु, समाज, देश और काल के दृश्य अथवा अदृश्य संस्कार से भावित मानव अन्तःकरण की अनुकूल रोचकता ही सौंदर्य है।**

सौंदर्य के कुछ अन्य उपादान

पूर्व पृष्ठों में कहा जा चुका है कि दार्शनिक दृष्टि से यद्यपि सौन्दर्य शाश्वत और नित्य है, एकरूप और एकरस है, अपरिवर्तनशील है, तथापि कण-कण में व्याप्त अपरिमित सौन्दर्यकी अनन्तधाराके अपार्थिव रूप की अनुभूति जन-साधारण को हो नहीं पाती। उस अनुभूति का विषय तो सौंदर्य का पार्थिव रूप ही हो सकता है तथा इस पार्थिव स्वरूप का आधार भी पार्थिव ही होता

है। अतएव दार्शनिक और तात्विक दृष्टि से अद्वैत और परमव्यापक सौन्दर्य लौकिक दृष्टि से अनेक और सीमाबद्ध हो जाता है। पार्थिव सौन्दर्य लौकिक दृष्टि से अनेक और सीमाबद्ध हो जाता है। सौन्दर्य-दृष्टि के संस्कार भी समाज, संस्कृति, देश, काल आदि के प्रभाव से हमारे हृदय पर अंकित हो जाते हैं। देशकालादि के प्रभाव से संस्कृत हमारे अन्तःकरण की सौन्दर्य-दृष्टि के साचे में जो बात ठीक—ठीक बैठ जाती है, वातावरण और परिस्थिति की स्वर-लहरी से झंकृत हृद्तन्त्री की रागिनी के साथ जिन वस्तुओं का मेल बैठ जाता है, वे हमें सुन्दर प्रतीत होती हैं और जिनका मेल नहीं बैठता वे असुन्दर। इसी से सौन्दर्योपासना और सौन्दर्यदृष्टि के रूप और आधार भिन्न-भिन्न देशों और युगों में भिन्न-भिन्न होते हैं, इसकी चर्चा की जा चुकी है। किसी युग में जो वस्तु सुन्दर समझी और मानी जाती है, वही दूसरे युग में अपना आकर्षण खो बैठती है। एक परिस्थिति में जो पदार्थ आकर्षक जान पड़ता है वही दूसरे समय अनाकर्षक और पीड़क हो उठता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जो चन्द्रादि संयोग में सुखद होते हैं, वियोग में दुखद हो उठते हैं। अथवा श्रावण और भाद्रमास की काली-काली घटा, रिमिझिम वृष्टि, मेघों का गर्जन और दामिनी की दमक में जो शोभा और मोहकता प्रतीत होती है वही पूस-माघ में कष्टदायक हो जाती है। सारांश यह कि पार्थिव सौन्दर्य की दृष्टि और अनुभूति में देश, काल और परिस्थिति, हृदय की अनुकूलता-प्रतिकूलता का संचालन करते है। और जो वस्तु हमें रुचिकर जान पड़ती है, वह आकर्षक हो उठती है और वही आकर्षण हो उठता है सौन्दर्य। हमारी मनोवृत्ति के झुकाव या अनुकूलता के कारण ही उसका निर्माण संस्कृति, शिक्षा, परिस्थिति, देश और काल से होना बताया जा चुका है। प्रकार-विशेष का चरित्र और शील हमें रुचिकर एवं अरुचिकर जान पड़ता है। पति के महाप्रयाण पर दुःसह दुःख-भार से कातर पत्नी जब धू-धू करती चिता में कूद पड़ती है, वियोग-ज्वाला की अपेक्षा उस ज्वाला को शीतल मान कर चिता के आलिंगन-हेतु उमग उठती है, उस समय हमारा मन श्रद्धा और संमान के भाव से भर उठता

है। हमें उसमें सौन्दर्य का भव्य स्वरूप स्पष्ट परिलक्षित होता है। हमारी तर्कबुद्धि और विदेशी नीति उसे भले ही बर्बरता कहे किन्तु शील और चरित्रगत सौन्दर्य की रुचिरता का अनुभव उपर्युक्त मनोवृत्ति से ही होता है।

स्थूल सौन्दर्य के स्वरूप की धारणाएँ यद्यपि देशकालादि के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं तथापि सुन्दर व्यक्तियों या पदार्थों के विषय में कुछ ऐसी सामान्य बातें हैं जो प्रायः सभी देश और दृष्टि के लोगों को मान्य हैं। सुन्दर कही जाने वाली वस्तु में ,व्यक्ति में भी सानुपातिकता का होना आवश्यक है। सानुपातिकता से तात्पर्य है कि जिस वस्तु में सौन्दर्य की दृष्टि से जिस अनुपात में जिस अंश का होना आवश्यक है उसी अनुपात या मात्रा में वह हो। विशाल नेत्र सुन्दर लगते हैं किन्तु यदि वे अत्यन्त विशाल, मुख पर ठीक लगते हुए से न होंगे तो उतने ही भद्दे लगेंगे जितने अतिलघु। छोटी सी कुटी में बड़ा भारी फाटक कदापि सुन्दर न लगेगा, बड़े तोरण की शोभा प्रसाद में ही निखरेगी। तात्पर्य यह कि प्रत्येक सुन्दर व्यक्ति या वस्तु में समविभक्तांगत्व, सानुपातिकता आवश्यक है।

सौन्दर्य की प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए दूसरा आवश्यक गुण है सममात्रिता (सिमेट्री) अर्थात् यदि एक हाथ जानु तक है तो दूसरा भी सुन्दर लगने के लिए उतना ही बड़ा होना चाहिए। अथवा भवन के दो गुम्बजों में एक पर यदि कलश बना हो तो दूसरे पर मकराकृति बना देना कभी शोभायुक्त न होगा। ठेठ भाषा में इसे कहते हैं "सवाल का जवाब"। ताज-महल आदि सममात्रिता की दृष्टि से खरे उतरते हैं।

सौंदर्य के लिए वस्तुओं या पदार्थों में सामंजस्य भी आवश्यक है। जिस प्रकार क्रम-विशेष से वस्तुओं के अंगों में परस्पर चढ़ाव-उतार ठीक-ठीक बैठता है उसी प्रकार सुन्दर होना भी आवश्यक है और उनकी विभिन्न, पर सामंजस्य-पूर्ण योजना से उनके भेद-विभेद भी बनाए जा सकते हैं। स्वर सात ही हैं किन्तु उनकी औचित्यपूर्ण योजना से अनेक राग-रागिनियों में स्वर-सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। रंग परिमित है किन्तु उन्हीं की सफल

योजना से असंख्य सुंदर चित्र बनते हैं। इस औचित्यपूर्ण सामंजस्य के बिना स्वर कर्ण-कटु चीत्कार एवं चित्र रंगों का अजायबघर हो उठता है। अवयवों का साधुभाव और औचित्य भी सौन्दर्य-योजना में सहायक होते हैं। प्रत्येक अंग परस्पर शोभावर्धन में सहायक हों, साधक हों तभी सौंदर्य बढ़ता है। एक का सौन्दर्य दूसरे के सौन्दर्य को दबाने वाला न होना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अंग का साकांक्ष होना भी आवश्यक है। सुन्दर वस्तु या व्यक्ति के अंग ऐसे हों जिनका रहना अनिवार्य हो, जिनके हटा देने पर समस्त सौन्दर्य बिखर उठे। किसी का मुख छोटा-सा हो, नाक अतीव ही लम्बी तो अवश्य ही वह खटकेगी। इसी प्रकार संगीत के ताल और स्वर के सम पर न आने से एक झटका सा लगता है और गीत के प्रति सहसा क्षोभ का भाव जाग उठता है। इसी भाँति पद्य में एक मात्रा भी कम हो जाती है तो यति और लय भ्रष्ट हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि इन्हीं से सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है वरन् कहना यह है कि सौन्दर्य सामूहिक आकर्षण है। जिसे भी हम सुन्दर कहते हैं, उनमें ये आवश्यक गुण प्रायः रहते हैं। सभी का सर्वत्र रहना आवश्यक नहीं है। दूसरे शब्द में हम कह सकते है कि ये सुन्दरता के धर्म हैं।

सौन्दर्य के इन धर्मों पर संक्षिप्त विचार करने से एक और बात ध्यान में आती है। सौन्दर्य की अनुभूति मुख्यतः समष्टि में होती है अर्थात् सौन्दर्य के अनेक उपकरण और अंग सुन्दरता की उद्भावना करते हैं। मुख पर आखें सजल नील कमल सी हों किन्तु नाक का पता ही न हो, भौंहें भद्दी हों, मुंह की गठन भी कुछ विचित्र सी हो तो आंखे व्यष्टितः सुन्दर होने पर भी सौन्दर्य की अनुभूति कराने में असफल रहती हैं। किन्तु जब अनेक अबयव सुरूप रहते हैं या अवयव-समूह की समष्टि में सौन्दर्य रहता है, तब थोड़ी-बहुत कमी होने पर भी वस्तु सुन्दर ही रहती है। इस प्रकार आँख एक व्यष्टि है पर इसके अवयवों का—पुतली, श्वेत भाग, कोण, प्रान्त आदि–का-विचार करने पर उसकी सुन्दरता भी अपने अवयवी की दृष्टि से समष्टिरूप में ही व्यक्त होती है। इस प्रकार सौन्दर्य व्यष्टि और

समष्टि, दोनों में होता है। किन्तु व्यष्टिगत सुन्दरता की सार्थकता समष्टि के सौन्दर्य–बोध में उपकारक होने में ही है। इसी भाँति समष्टि-सौन्दर्य भी अपने अंगों की सामंजस्यपूर्ण साधुभाव की सुघराई पर निर्भर रहता है। वस्तुतः दोनों अन्योन्याश्रित हैं। एक दूसरे उदाहरण द्वारा इसे हम स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं। व्यष्टि स्वतः असुन्दर होने पर भी समष्टि-गत बातावरण में निखर उठती है। जापानी-चित्रकला में ऐसी प्रकृति लक्षित होती है। प्रकृति के सम्मोहक-वातावरण में, जहां वासन्ती सौरभ से मदमाते प्रसून अपना सौन्दर्य बिखेर रहे हों, मन्द-मलयानिल के मादक थपेड़ों से उनके मृदुल गात लहरा रहे हों, रंग-बिरंगे पुष्पों पर गुनगुन करते हुए भ्रमर उन्मत्त से प्रेमालाप कर हे हों, उसी के मध्य में एक नीरस ठूंठा वृक्ष, जो व्यष्टितः सुन्दर नहीं किन्तु, उस लहलहाते हुए वातावरण में वह मूक, जीर्ण-शीर्ण जर्जर एकाकी वृक्ष अपनी अलग ही कथा सुनाता रहता है। किस प्रकार उसका वसन्त लुट गया, उसका वैभव छिन गया, काल की क्रूरगति ने उसे एकाकी कर दिया, नश्वरता की मूक प्रेरणा ने उसे विनष्ट कर दिया—इन सब की एक साथ प्रतीति कराता हुआ वह ठूंठा वृक्ष अतीव रमणीय हो उठता है। ऐसी पृष्ठभूमि के वातावरण में अंकित पदार्थ समष्टि का मंत्र होकर परम मोहक और आकर्षक हो उठता है। अस्थिचर्मावशिष्ट कुरूपा वृद्धा भी वातावरण–विशेष में सुन्दर हो उठती है। समष्टि में आकर सुन्दर वातावरण के बीच असुन्दर व्यष्टि भी सौन्दर्य प्राप्त कर लेती है।

सौन्दर्य के सबन्ध में प्रस्तुत प्रसंग समाप्त करने के पूर्व एक बात की ओर ध्यान आकृष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है। वह है सौन्दर्य की स्थावरता और गत्वरता। इसके विस्तृत विश्लेषण में न जाकर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि वस्तुतः गतिशील सुन्दरता अधिक प्रभाव-शालिनी होती है। उसकी अनुभूति में सजीवता होती है। स्थावर सौन्दर्य निष्क्रिय सा हो उठता है। सुन्दर वस्तु जब अपनी सुन्दरता से दूसरे का ध्यान आकृष्ट कर सके तभी हम उसे गत्वर कहेंगे। कभी-कभी ऐसा

होता है कि किसी स्त्री या पुरुष का मुख सुन्दर और दोष-रहित होने पर भी आकर्षक नहीं होता, उसकी सुंदरता सजीव नहीं जान पड़ती। पर दूसरी ओर किसी का मुख असुन्दर रहने पर भी मोहक और आकर्षक लगता है। अलग-अलग अवयव सुन्दर न होने पर भी इसमें कुछ ऐसी मधुरता सी रहती है जो बरबस आकृष्ट कर लेती है। उसे हम सुन्दर कह उठते हैं। यह आवश्यक नहीं कि गौरवर्ण का व्यक्ति ही सुन्दर हो। कृष्ण वर्ण के व्यक्ति में कभी-कभी ऐसी मधुरिमा और मनोहरिणी शक्ति दिखाई पड़ती है कि कुन्दन-वर्ण चकाचौंध उत्पन्न करनेवाला सा होकर भी अनाकर्षक हो उठता है। सजीव महोकता में ही सच्ची रमणीता है लावण्य की लीला।

प्रथम-उन्मेष

साहित्य और सौंदर्य

अभिव्यक्ति और कला

मानव-मानस स्वभाव से ही क्रियाशील है। उसके लिए शान्त बैठे रहना कठिन ही नहीं असम्भव है। उसका ध्येय है प्रगति। पिछले प्रकरण में यह दिखाया जा चुका है कि प्रगति की ओर उन्मुख मानव आदि काल से सौन्दर्य की उपासना करता चला आया है। उसका विकासोन्मुख इतिहास वास्तव में सौन्दर्योपासना का ही इतिहास है। धीरे-धीरे जब सौन्दर्य में उसे आनन्द की उपलब्धि हुई, जब वह भावातिरेक से आकुल हो उठा, उसका आनन्द उसमें समा न पाया, तभी वह छलक उठा। एकोऽहं बहुस्याम् की भावना जागरित हुई, आत्माओं में परिव्याप्ति का स्वाभाविक आवेग हुआ। वह अपने आनन्द को सबका आनन्द बनाने के लिए उत्सुक हो उठा। कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक स्थल पर कहा है:—

"मनुष्य अपनी प्रचुरता के ही प्रभाव से अपने को अभिव्यक्त करता है। अपने लिए जितने की आवश्यकता है, आत्मा उतने से तृप्त नहीं हो सकती, ब्रह्म सृष्टि में अपने को अभिव्यक्त कर आनन्द-लाभ करता है। अथ च उसके लिए उस सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं। फलतः इस सृष्टि से उसका प्राचुर्य प्रगट होता है। मनुष्य भी उसी प्रकार सृष्टि में आनन्द-लाभ करता है, यह सृष्टि उसके प्राचुर्य अथवा अमितव्ययिता का प्रमाण है।............"

इस भांति जब स्वयं ब्रह्म जाने किस कामना से प्रेरित हो, जाने किस अभिव्यक्ति के लिए आकुल होकर अपनी अभिव्यक्ति करता है, सृष्टि के महाप्रपंच का ताना–बाना बुनता रहता है तब उसी अभिव्यक्ति का एक अणु, मानव भी अपने सुन्दर भावलोक की अभिव्यक्ति के लिए विकल हो उ तो कोई आश्चर्य नहीं, अभिव्यक्ति के बिना यदि वह न रह सके तो कुछ

असम्भव नहीं, हां यदि अभिव्यक्ति से उसे तृप्ति, शान्ति, विश्राम और आनन्द मिले तो स्वभाविक ही समझना चाहिए। इस प्रकार सौन्दर्य-बोध से सौन्दर्याभिव्यंजन के लिए आकुल भावुक हृदय की सौन्दर्याभिव्यक्ति की रमणीय प्रणाली का ही नाम वस्तुतः कला है। जब उस भावमय सत्ता को ध्वनितरंगों द्वारा प्रस्फुटित कर, मनोवेग को वायु की लहरों के साथ विकीर्ण कर देने की इच्छा हुई तभी संगीत-कला का जन्म हुआ। उसी भाव को, उसके अनिर्देश्य आभास, इंगित को, उस असीम को, एक विशेषरूप में, एक निश्चित अर्थ में प्रतिष्ठित कर देने का प्रयास हुआ तभी चित्रकला ने जन्म लिया। पत्थर, धातु और मिट्टी के टेढ़े-मेढ़े नीरस टुकड़ों को, नीरस छेनी से काट-छाँट कर जीवधारियों के आकार और भाव की प्रतिमा सुघटित करने की इच्छा जब जागरूक हुई तब मूर्तिकला मुखर हो उठी। इसी प्रकार ईंट, पत्थर जैसी ठोस सामग्री लेकर, उपयोगिता की सहायता देकर कीर्ति-स्तम्भों को, चिरस्थायी मूक सभ्यता के द्योतकों का रूप खड़ा कर देना ही वास्तुकला है। और उस मूक शरीर में में भाषा भर कर जीवन दान देने की इच्छा ही काव्य या साहित्य है।

कला और साहित्य

अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का सर्जन करने के लिए कला का अवतार हुआ और कला ने अपना ललित सहयोग देकर जब वाचिक अभिव्यक्ति को आकर्षक, मोहक एवं प्रभावशाली बनाया, तब उस कलापूर्ण अभिव्यक्ति का नाम हुआ साहित्य। आज का 'साहित्य' शब्द अंग्रेजी के लिट्रेचर शब्द के समान बहुत ही व्यापक हो गया है। एक ओर तो उसे बोलचाल की भाषा में लिखी हुई किसी पुस्तक को, विज्ञापन, ऐतिहासिक, अनुसन्धानों तक को साहित्य कहते हैं, दूसरी ओर उपयुक्त अर्थ में साहित्य से कलापूर्ण कृतियों का ही बोध होता है। यहां अभिव्यक्ति का अर्थ हुआ केवल व्यक्त करना। किन्तु हम ऊपर कह चुके हैं कि सुन्दर एवं चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति में ही कला है। किसी बालक को कुछ प्राप्त करने की इच्छा

हुई, उसने किसी के हाथ में उस वस्तु को देखा और मांगने को प्रस्ताव प्रस्तुत किया। "मुझे अमुक वस्तु दो" यह भी बालक की अभिव्यक्ति ही है, किन्तु इसमें साहित्य नहीं। साहित्य तो तब होगा जब कोई भावुक हृदय अरुण, नवल उषा की आभा से आलोकित प्राची को देख कर सौन्दर्य विभोर होकर कह उठे—

आज नव मधु की प्रात,
झलकती नव पलकों में प्राण
मुग्ध यौवन के स्वप्न समान
झलकती मेरी जीवन स्वप्न प्रभात
तुम्हारी मुखछवि सी रुचिमान।

[गुंजन, पृ० ४५:]

सारांश यह कि वास्तविक साहित्यत्व तो क्रान्तद्रष्टा मनीषी कवि के वस्तु या भाव के साक्षात्करण में है। अतः साहित्य, कलात्मक दृष्टि से देखे हुए हुए समाज का दर्पण है। क्या हो रहा है, क्या होता रहा है, क्या होता रहेगा, इसका उपन्यास और समीक्षण ही साहित्य की विशेषता है। इस दृष्टि से वह चिर नवीन है और है चिरन्तन। चारों ओर नाश और ध्वंस के मध्य साहित्य सब के सहित सब दिन सतत जागरित रूप में विद्यमान रहता है। यही उसका सार्वभौमत्व है।

दूसरे शब्दों में हम साहित्य को मानव जाति के अनुभवों, कार्यों अथवा उसकी अन्तर्वृत्तियों की समष्टि भी कह सकते हैं। "हमारे नित्य प्रति के जीवन में हमारी इच्छा जिस प्रकार विवेक, बुद्धि और कर्म-लालसा के सहित, आकर्षण-विकर्षण, सुख-दुःख, आनन्द-विषाद, रोदन और हास के द्वंद्वों से संयुक्त हो जाती है वैसे ही साहित्य में भी,। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो जीवन में नितनवीन संघर्ष–कामनाओं की अतृप्ति और उनकी पूर्ति–मननशील रुचिर हृदय की कल्पना ही साहित्य की स्थायी निधि है। साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नितनूतन रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है। क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना गया है।

इसलिए साहित्य को आत्मा की अनुभूति कहते हैं और उसके द्वारा उपलब्ध आनन्द को लोकोत्तर। वास्तव में साहित्य का स्थान द्वंद्वों से परे, भौतिकता से दूर, कल्पना और वास्तविकता के समुचित सम्मिलन की भूमि में ही समझना चाहिए।

पाश्चात्य आलोचकों के शब्दों में साहित्य वह कला है जिससे भाषा में अभिव्यक्ति की क्षमता आती है। साहित्य शुद्ध अनुभूति है तथा इसका मान और महत्व इसी कारण स्थापित है कि यह अनुभूति है। अतः जहां जीवन है वहां अनुभूति की पूर्ण सम्भावना है और तभी साहित्य की[१]। एक विद्वान् कहते हैं कि हम साहित्य को मानव-जीवन की महत्ता प्रतिपादित करनेवाला जानकर एवं गम्भीर और चिरस्थायी समझ कर महत्व देते हैं[२]। वह साहित्य को भाषा के माध्यम द्वारा व्यक्त होने वाली जीवन की अनुभूति मानते हैं:—

१—स्वानुभूति को व्यक्त करने की अभिलाषा।
२—लोगों के कार्यों के प्रति अपना लाभ और रुचि।
३—वास्तविक तथा काल्पनिक जगत् में मानव की अपनी विशेष रुचि, इच्छा तथा लाभ।

इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य को कई रूपों एवं पक्षों में

---

1. Literature is an art by which expression is achieved in language.–The art of Literature is experience, pure experience which is accepted and valued because it is experienee. Thus whereever there is life there is the possibility of pure experience and so of literature".

2. Hudson–"We care for literature primerily on account of its deep and lasting human significance. It is fundamentally on expression of life though the medium of language'.
   (1) "our desire far self-expression"
   2) "our inerest in people and their doings."

देखने का प्रयत्न किया है। किन्तु सबके मूल में यह एक दृढ़ भावना है कि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है।

साहित्य का स्वरूप बड़ा व्यापक है। यह गद्य, पद्य, नाटक, चम्पू, उपन्यास, आख्यायिका, आलोचना, विवेचना—सभी रूपों में उपलब्ध है। किन्तु उसका केवल एक अंश, पद्यमय काव्यात्मक स्वरूप ही प्रस्तुत निबन्ध का विवेच्य है। अतः उसी की चर्चा आवश्यक है। 'प्रसाद' जी के शब्दों में काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है। जिसका सम्बन्ध-विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं होता, वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की जो मनन क्रिया वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय-लक्षण, श्रेय और प्रेय, दोनों से परिपूर्ण होती है। इसीलिए हमारे साहित्य का आरम्भ काव्यमय है। विश्व साहित्य का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ, ऋग्वेद की ऋचाएँ भी पद्य का ही आश्रय लेकर होती रही हैं। लता-वल्लरियोंके मध्य उस अभूतपूर्व वातावरण में स्थित जब आदि कवि ने क्रौंच को जीवन-मरण से संग्राम करते, कातर सहचरी की अवज्ञा कर प्रयाण कर जाते देखा उस, समय भावावेश में उनके मुख से पद्य ही उद्भूत हुआ था। वहाँ स्वतः सौन्दर्य, सत्य एवं मंगल का समावेश हो गया था, जिसके मूर्त स्वरुप की अवतारणा राम में हुई।

साहित्य में सौन्दर्य

अब प्रश्न होता है कि साहित्यकला अथवा काव्यकला से सौन्दर्य का किस प्रकार मेल है। पाश्चात्य लेखक "हेगेल" का मत है कि मानव सौन्दर्य-बोध द्वारा ईश्वर की सत्ता का अनुभव करता है। फिर धर्मशास्त्र, अध्यात्मविद्या के द्वारा उसका साक्षात्कार प्राप्त करता है, पुनः शुद्ध तर्क-ज्ञान से उसे एकीभूत कर लेता है। भारतीय विचारधारा इसे कुछ दूसरी दृष्टि से देखती है। उपनिषदों में "तदेतत् सत्यम् मंत्रेषु कर्माणि कवयो

यान्यपश्यँस्तानि त्रेतायाम् बहुधा सन्ततानि" आया है। अन्यत्र है "ऋषयो मन्त्रद्रष्टार:"—ऋषि लोग या मन्त्रकवि उन्हें देखते है। "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" में ऋषि और कवि पर्याय से हैं। उस पुरातन युग में कवि केवल तुक्कड़बाज या चाटुकार नहीं होते थे। वे होते थे महर्षि, मनीषी और दार्शनिक, उनका लक्ष्य था सर्वभूतहित की साधना और उनकी कृति हुआ करती थी श्रेय-समन्वित प्रेय। अतृप्त वासना की तृप्ति के लिए उन दिनों काव्य-निर्माण की प्रथा न थी, अपितु काव्य द्वारा वैज्ञानिक, दार्शनिक, एवं मंगल-प्रसारक की भाँति विश्व-व्यथा और जगत्-पीड़ा के निराकरण तथा अभ्युदय और आनन्द का संसार में सस्थापन की कामना कवि में संलग्न रहा करता था। ऋषि का लक्ष्य है, आनन्द, जिसे हम पहले प्राकरण में सौन्दर्य का दूसरा नाम प्रमाणित कर चुके हैं, और कवि का लक्ष्य है सौन्दर्यपूर्ण संगीतमय हृदयानन्द के छन्दो-बद्ध रूप की सृष्टि। अतः यह स्पष्ट ही है कि साहित्य और सौन्दर्य का अटूट सम्बन्ध है। सौन्दर्य ही काव्य को मंगलमय बना देता है। पश्चात्य विद्वान जॉनसन का कथन है कि कविता वह कला है जो बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का सहारा लेकर आनन्द को सत्य से समन्वित कर देती है[1]। एक अन्य विद्वान् कविता को सौन्दर्य की लयात्मक अथवा संगीतात्मक रचना ही स्वीकार करते हैं[2]। कहना नहीं होगा कि विस्तृत सौन्दर्य को छन्द के बन्धनमें जकड़ देना ही काव्य है। यह तो काव्य का व्यापक स्वरूप प्रमाणित करता है कि सौन्दर्य उसमें किस प्रकार व्याप्त है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो कह सकते हैं कि मनुष्य की सौंदर्यो-पासिका प्रवृत्ति अभिव्यक्ति में भी सुंदरता का समावेश करने के लिए व्याकुल हो उठी।

---

1. Johnson says —"The poetry is the art of uniting plea-sure with truth by calling imagination to the help of reason".
2. Edgar Elan poe says—"poetry is the rhythemic creation of Beauty".

उसकी इच्छा हुई कि जो कुछ वह लोगों के मुसंख रखे, अभिव्यक्त करे वह आर्षक हो, प्रभावशाली हो, रमणीय हो, और सुंदर हो। यहीं से बाह्य शरीर का जन्म हुआ! शब्दों को नग्न रूप में न रख कर उन्हें वस्त्रा-भूषणों से सजा कर, अलंकृत कर लोगों के सन्मुख प्रस्तुत किया गया। इसी सिद्धि के लिए मानव का अन्तकरण, उसकी कल कोमल कल्पनाएँ, उसकी भावुकता, उसकी मनाएं, सब गतिशिल हो उठीं। प्रभावोत्पादकता और रमणीयता की अभिवृद्धि के विचार से मनुष्य साहित्यिक अभिव्यक्ति में संगीततत्व का सम्मिश्रण कर उसे "कविता" नाम से सम्बोधित करने लगा।

अभिव्यक्ति-शैली में सौन्दर्य की उद्भावना

इस प्रकार साहित्य क्षेत्र में मनोरम अभिव्यञ्जना-प्रणालियों से अलंकृत, भावुक कल्पना से अनुप्राणित, सौन्दर्य से उत्प्रेरित तथा हृदयाभिराम संगीत तत्व से संमिश्रित पद्य-काव्य का अविर्भाव हुआ। जिस दिन मानव जाति के इतिहास में प्रथम-प्रथम अनेक कलाओं के शृङ्गार से सजी हुई कविता-कामिनी का अवतार हुआ होगा, सचमुच वह परिपूत दिवस मानव-समाज के इति-हास में अलौकिक आनन्द और उल्लास का अद्भुत क्षण रहा होगा। यह अलौकक विभूति मानव-मानस की कल्पना, भावना, अनुभूति, चेतना और रमणीयता का लोकोत्तर प्रतिनिधित्व करती हुई शब्द और अर्थ के सहयोग से लोक विचित्र सृष्टि का सर्जन करके मानव जगत् का जो संस्करण और परिष्करण कर गई है, वह मानव को मानव बनाने में बहुत कुछ समर्थ हो सकी है। अनेक धर्म-सूत्रों और स्मृतियों से मानव-मानस का जो उपकार नहीं हो सका वह साहित्य द्वारा बड़ी सरलता तथा मोहकता से संपन्न हुआ है। इसीलिए काव्य को भारतीय साहित्याचार्यों ने कान्तासम्मित उपदेश कहा है। अपने अलौकिक आनन्द निष्यन्द से परिशुद्ध द्रवित मानव हृदय को काव्य जिस साँचे में चाहे ढाल सकता है। इसीलिए "सद्यःपरनिर्वृतये कान्ता-संमितयोपदेशयुजे" मम्मट की इस उक्ति का अनुसरण करते हुए अलंकार-महोदधिकार ने कहा है।...

> "अमन्दोद्गतिरान्दश्चिवर्गश्च निरर्गलः।
> कीर्तिश्च कान्तातुल्यत्वेनोपदेशश्च तत्फलम्॥

और इसी दृष्टि से साहित्य और काव्य के महत्व का प्रतिपादन करते हुए राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में "सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदश काव्यं विद्यास्थानम् इति यायावरीयः" तथा "पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः" कहा हैं। अस्तु कहने का तात्पर्य यही है कि परमानन्द दायक साहित्य अपनी रमणीयता से ही मनुष्य—हृदय को मुग्ध करके तब उसका संस्कार और परिष्कार करता है। पर साहित्य की इस रमणीयता का सर्जन कवि करता है, काव्य जगत् का निर्माता कवि ही होता हैं। और उसके उपदान हैं शब्द और अर्थ। यद्यपि कविता में संगीततत्व का भी संमिश्रण रहता है तथापि वह उसका मुख्य उपादान नहीं है। कविता की सौंदर्य-सृष्टि में प्रधानता है शब्द और अर्थ की। किन्तु शब्द एवं अर्थ का सीधा-सादा प्रयोग काव्य नहीं होता, कोरा वर्णन अथवा कोरा उपदेश भले ही हो। शब्द और अर्थका सहयोग तभी साहित्य अथवा कविता की प्रतिष्ठा तथा आदर प्राप्त कर सकता है जब वह "जगच्चेतश्चमत्कारि" हो, सहृदयाह्लादकारी निष्यन्द-सुन्दर हो। और इन उपर्युक्त गुणों का काव्य में सर्जन होता है कवि की क्रान्तदर्शिता से, उसकी नवोन्मेषाशालिनी प्रतिभा से, लोकविलक्षण कल्पना से और सबसे अधिक उसकी सहृदय भावुकता से अपनी प्रतिभा, कल्पना, भावुकता एवं रुचिर कला से कवि अपने कविता-संसार को लोकहृदयहारी एवं जगच्चेतश्चमत्कारी बना देता है। इसी में सफलता प्राप्त कर लेना कवि-व्यापार की, कविकर्म की सफलता है। दूसरे शब्दो में हम कह सकते है कि शब्द और अर्थ को इस भांति सजाकर संसर के सामने रखने में कवि की सफलता है जिसमें वह रमणीय हो उठे, अलौकिक हो उठे। वक्रोक्ति-जीवितकार ने इसी को वक्रोक्ति, शब्दार्थ की वैदग्ध्यपूर्ण विच्छित्तियुक्त भणिति कहा है। शब्द और अर्थ की सौंदर्यपूर्ण रमणीय उक्ति में कवि की अभिव्यक्ति अपनी चरम सफलता को प्रगट करती है। अभिव्यक्ति की इसी सौंदर्ययोजना में कवियों की निपुणता, कविकर्म की कुशलता चिरकाल से मानी गई है। कवियों की उक्तियों में साहित्य-शास्त्रियों ने इन्हीं के अध्ययन का यत्न करते हुए अपनी-अपनी दृष्टियों के अनुसार उनकी विवेचना की है।

अलंकारशास्त्र के लक्ष्य, व्यंग्यादि अर्थ, रीतियाँ, गुण ध्वनि आदि सभी इसी सौंदर्योद्भावना के लिए काव्य में अपनी-अपनी उपयोगिता सिद्ध करते हैं। कवि कभी अपनी रचना में समान ध्वनियों की योजना से जब एक भांति के स्वर-सौंदर्य का निर्माण करना चाहता है और जब अपनी इस शब्द-चमत्कृति के द्वारा अपने काव्य में सौंदर्याभिव्यंजना करना चाहता है तब भाव और अभिव्यक्ति के अनुकूल होने पर यही शब्दचमत्कार–भारतीय साहित्यशास्त्र में प्रचलित शब्दों के अनुसार हम जिसे अनुप्रास, यमक आदि कह सकते हैं—चारुता उत्पन्न करता है और भाव के प्रतिकूल होने पर केवल शब्दक्रीड़ा, कवि की शब्दक्रीड़ा एवं अरसिक पांडित्य का प्रदर्शनमात्र करना है। इसी कारण कव्य के तीन भेदों, उत्तम, मध्यम और अधम में, शब्दचित्र और अर्थचित्र या शब्दचमत्कार और अर्थचमत्कार वाले काव्यों को अधमकाव्य माना है। ऐसे यमक, श्लेष और अनुप्रास की योजना, जिनसे भावानुभूति में प्रतिकूलता उत्पन्न होती है अथवा उक्ति के सौंदर्य का ह्रास होता है वे (शब्दालंकार योजनाएं) कोरी शब्दक्रीड़ाएं ही रहतीं हैं, उन्हें हम काव्य जैसे पवित्र और उन्नत पद प्रतिष्ठा से सम्मानित नहीं कर सकते। रीतिकाल के अनेक आचार्यों की कविताओं में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। पर जैसा कि कहा जा चुका है, कलाकार अपनी कविता के प्रभाव में अनुप्रास यमकादि द्वारा तीव्रता उत्पन्न करने में समर्थ होता है उस समय सचमुच उसका साहित्य, सौंदर्य की दीप्ति से चमत्कृत हो उठता है।

जिस प्रकार अनुप्रास, यमक आदि की उपयोगिता तभी स्वीकार की जाती है जब उनके द्वारा भाव की सुन्दरता और प्रभावशीलता अधिक दीप्त हो उठती है, उसी प्रकार मम्मट आदि विद्वानों ने प्रौढ़ा, परुषा और मधुरादि वृत्तियों के लिए, जिनके आधार-ओजस्, प्रसाद और माधुर्य गुण हैं, रसों के अनुकूल होना आवश्यक बताया है। यदि कोमल रसों के प्रसंग में माधुर्य गुण की योजना की जाती है तो मधुरा वृत्ति रहती है और पाञ्चाली रीति का अनुसरण किया जाता है तब तो रचना में सौंदर्य दिखाई पड़ेगा

और यदि रौद्र या भयानक रस के प्रकरण में मधुरावृत्ति और माधुर्य का प्रयोग होता है गौड़ीया वृत्ति के स्थान पर पांचाली की सहायता ली जाती है—तो रचना का सौंदर्य विनष्ट हो जायगा। जब रति, उत्साह, शोकादि भावों का हृदय पर प्रभाव पड़ता है तब हृदय में तरलता (द्रुति), दीप्ति और विकास की अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार ध्वनियों का भी हृदय पर प्रभाव पडता है। माधुर्य गुण, मधुरावृति और तदनुकूल ध्वनियों की योजना से हृयय में द्रुति उत्पन्न होती है, ओजस् गुण से, परुषा-वृत्तिसे दीप्ति। हम यह भले ही कह सकते हैं कि रस, भावादि से हृदय अधिक प्रभावित होता है, केवल वृत्ति या गुण से कम। किंतु वृत्ति और गुण का कला का नाम तभी दिया जाता है, उनके साहित्यिक सौंदर्य की उत्कृष्टता तभी स्वीकारकी जाती है जब उनकी रसानुकूल योजनाएँ होती हैं।

जिस भाति कलाकार अपनी काव्यकृति में अनुकूल और उचित छवि-योजना द्वारा अपने काव्य के शब्दांश में चारुता का सजन करना चाहता है, उसी भाँति उपमा, उत्प्रेक्षादि अर्थालंकारों की योजना द्वारा कवि अपना अभिव्यजना के सौंदर्य की अभिवृद्धि करता है। जब उसकी अनुभूति अमूर्त रहती है, उसकी सरल उक्ति द्वारा भाव या विचार का व्यक्त आकार सुस्पष्ट होता सा नहीं जान पड़ता तब वह कभी अप्रस्तुत की योजना का सहारा लेता है और कभी लक्षणा, व्यंजना आदिशक्ति का आश्रय लेकर अपने वर्ण्य विषय की विशेषता, गुण, रूप या क्रियादि का तीव्र और अधिक स्पष्ट अनुभव कराना चाहता है। यही अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की सौन्दर्य-पूर्ण रमणीय और अधिक प्रभाव-शाली अभिव्यक्ति ही अर्थालंकार की योजना है। सौंदर्यहीन अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का कोरा साम्य-वैषम्य प्रदर्शन, रमणीयता और सौंदर्यसे रहित होने के कारण अलंकार नहीं माना जाता। "आम की पत्ती से मिलती-जुलती जामुन की पत्ती भी होती है", केवल यह कहना उपमालंकार नहीं कहा जा सकता। क्यों कि इस उक्ति द्वारा न किसी सौन्दर्य का उत्कर्ष प्रकट होता है और न उक्ति में रमणीयता, वक्रता अथवा प्रभावशीलता ही उत्पन्न होती

है। काव्य-रसिकों के मानस का अनुरंजन कर सकने में समर्थ साम्यवैषम्यादि-मूलक अप्रस्तुत की प्रस्तुत-सहायक सुंदर अभिव्यक्ति ही अलंकार-योजना कही जा सकती है।

भावुकता अंगूर लता से खींच कल्पना की हाला
कवि बन कर है साकी लाया भरकर कविता का प्याला।
कभी न कण भर खाली होगा लाख पियें दो लाख पियें
पाठक गण हैं पीने वाले पुस्तक मेरी मधुशाला।

[मधुशाला]

जब यही अलंकार-योजना सहज भावना से प्रेरित नहीं रहती, अनुकूल भावना की अनुभूतिमें साधक न होकर बाधक होती है एवं औचित्य से विमुख, अतिरंजित और सहहृदयोद्वेजक रहती है तब कला की रमणीयता को विकृत करने वाली होती है और अलंकार-दोष का नाम ग्रहण करती है। उस समय वह अलंकार शोभावर्धक न होकर विशुद्ध अर्थ में क्रीड़ा ही रह जाता है। काव्यनाम का संमान उसे देना काव्य का अनादर करना हो जाता है। काव्य में इस सफलता की उद्भवना भी कवि-कौशल से ही संभव है। कवि की प्रतिभा ही ऐसे अप्रस्तुतों को चुनने और उनका गूढ़ रहस्य उद्घाटित करने में समर्थ हो पाती है जिनके द्वारा उसकी अभिव्यक्ति सौंदर्य-सम्पन्न होकर कला का गौरव प्राप्त कर पाती है—

"निस्वन्दतरी अतिमन्द तरी"......

चल अविचल जल कर कलकल पर गुंजित गति की मधु-लहरी
सासों के दो पतवार चपल सम्मुख लाते हैं नव नव पल
अविदित भविष्य की आशंका की छाया है कितनी गहरी

[चित्ररेखा]

अस्तु, यह कहा जा सकता है कि अर्थालंकार की योजना भी काव्य की अभिव्यक्ति में एक भांतिके सौंदर्य की ही सृष्टि करती है।

शब्द-शक्तियों की भी यही कथा है। आरंभिक युग के मनुष्य ने जब वाणी का आविष्कार किया होगा उस समय उसे कितनी प्रसन्नता हुई होगी।

उसी दिन वह मूक, पर विचारशील जन्तु अपने भावानुकूल अन्तस्तल की भावनाओं के बोझ को वाणी द्वारा प्रकट कर प्रसन्नता से नाच उठा होगा। किंतु उस समय उसकी अभिव्यक्ति सीधी-सादी रही होगी। आज जिसे हम अभिधा कहते हैं, आदि युग का मानव, उसी का व्यवहार करता रहा होगा। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों उसकी संस्कृति का विकास होता गया, उसकी रूचि परिमार्जित, सुसंस्कृत और परिष्कृत होती गई त्यों-त्यों उसका वाग्-विलास भी बढ़ता गया। उसके कथन की प्रणाली में भी सौंदर्य की वृद्धि होती गई। वह जो कुछ कहना चाहता था, उसे सीधे-सादे ढंग से, अभिधा द्वारा न कह कर लक्षणा और व्यंजना आदि के द्वारा प्रकट कर, अपने अभिव्यंजन को सौंदर्य-सम्पन्न कर, उसकी रमणीयता बढ़ाने का यत्न करने लगा होगा। इसी प्रकार लक्षणा-व्यंजना आदि शब्द शक्तियों का विकास और प्रभाव बढ़ता गया। व्यवहार-जगत् में ही नहीं वरन् धीरे-धीरे विधाता के विधान से परे, आनंदमय लोक-विलक्षण काव्य-जगत् में भी लक्षणा-व्यंजना की उपयोगिता से मुग्ध होकर सरल-स्वभाव कवियो ने भी इसे अपना लिया। संभवतः यही शब्द शक्तियों के विकास की कहानी है। शब्दशक्तियों के प्रभाव और सौंदर्य का उत्कर्ष उतना ही अधिक होता चलता है, भाषा में जितने लाक्षणिक और व्यंजक शब्दों के प्रयोग बढ़ते चलते हैं। मध्यकालीन एवं आधुनिक युग के हिंदी-कवियों की पारस्परिक तुलना इस बात का ज्वलंत प्रमाण है।

जहाँ 'मध्यकाल के घनानंद आदि कुछ इने-गिने कवियों में लाक्षणिक प्रयोग की सफलता दिखाई पड़ती है, वहीं आज का हिंदी-कवि इन्हीं लाक्षणिक प्रयोगों की ध्वन्यात्मकता के सहारे एक अत्यन्त मनोहर, उत्कृष्ट एवं परम कलात्मक कविता की दुनियाँ बड़ी सफलता के साथ बनाता चल रहा है। ध्वन्यात्मक और लाक्षणिक प्रयोगों की उत्कृष्टता से आज वह रहस्यात्मक, छायावादी, प्रतीकात्मक एवं अमूर्त भावनाओं की मूर्त अभिव्यक्ति सफलता कर रहा से है।

ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी
अंबर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे ।

[लहर, पृ० १०]

इस प्रकार की व्यञ्जना द्वारा रहस्यमय पुरुष के अनुराग से रंजित, सांयप्रातः का जो क्षितिज, असीम अम्बर और ससीम वसुंधरा का मिलन स्थल सा आभासित होता है, कोलाहल से भरी धरित्री से हटा कर वहीं ले चलने के लिए, कवि अपने नाविक से, अपनी जीवन-नैया के कर्णधार से, भुलावा देकर ले चलने के लिए, कह रहा है । इस उक्ति में लक्षणा, व्यञ्जना और ध्वनि के सहयोग से जो अभिव्यक्ति की तीव्रता दिखाई पड़ती है, उक्ति की जो प्रभाव-वृद्धि लक्षित होती है, जिस काव्य-वासना का सर्जन होता है एव अपनी रमणीयता के उत्कर्ष से हृदय में तन्मयता उत्पन्न करने वाली काव्य की जिस संवेदनशील प्रेषणीयता का आर्विभाव होता है वह सब लक्षणा का ही प्रसाद है, व्यञ्जना की ही विभूति है, ध्वनि का ही ऐश्वर्य है ।

लक्षणा और व्यञ्जना क स्वरूप और भेदोपभेदों के निरूपण का न यहाँ अवसर ही है न अवकाश। पर इतना कहना अनुचिन न होगा कि इन शब्द-शक्तियों का विशाल क्षेत्र है । रूढ़ा, प्रयोजनवती, शुद्धा, गौणी आदि लक्षणा के सम्पर्क से एवं शब्दों,–अभिधायक आदि–तथा अर्थों–अभिधेय-लक्ष्यादि–से प्रेरित व्यंजना के योग से तथा ध्वनि के सम्पर्क से अभिव्यक्ति में चारुता की सृष्टि होती है । यदि हमें यह कहना है कि "अपने जीवन के भविष्यत् की बाधाओं से डर कर मैं सदुद्देश्यमार्ग से हट नहीं सकता" तो सीधे-सीधे यह कह देना उतना रोचक और मनोहर न होगा जितना कवि बच्चन का यह कहना–"धूलिमय नभ क्या इसी से बाँध दूं मैं नाव तट पर ?" अधिक भव्य, मर्मस्पर्शी, प्रभावशाली और रुचिर है। यही है रुचिर चारु उक्ति की वक्रता जिसके द्वारा लाक्षणिक और व्यंजक शब्दों की शक्तियों से

कवि की संगीतमय अभिव्यक्ति परम रमणीय और प्रभावशील हो उठती है। पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ एवं ध्वनित तथा तात्पर्यार्थ के सहारे अनंत अभिनववक्रताएं और भणिति-भंगिमाएँ कवियों ने उद्‌भावित की हैं, कर रहे हैं और करते रहेंगे। वस्तुतः इन तीन शक्तियों के भीतर संसार की कविता के समस्त सौंदर्य का अतंर्भाव किया जा सकता है।

ऊपर शब्दशक्तियों का विचार करते हुए ध्वनि की भी चर्चा हुई है। ध्वनि भी एक प्रकार का व्यंग्यार्थ ही है। जहाँ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण, अधिक रमणीय और अधिक मर्मस्पर्शी होता है वहाँ उसे ही ध्वनि कहते हैं। आनन्दवर्धन और अभिनव-गुप्त से लेकर प्रायः सभी संस्कृत के अलंकारशास्त्र के प्रमुख आचार्यों ने ध्वनि-काव्य को, कविता में ध्वनि को, सर्वप्रमुख माना है। ध्वनि में भी रसध्वनि को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हुए रस को सर्वसुंदर माना गया है। रस के साम्प्रदायिक शास्त्रीय विवेचन के प्रपंच में न पड़ कर भी, उसकी शास्त्र-वर्णित महत्ता को अक्षरशः अपरिवर्तित रूप में न स्वीकार करते हुए भी, आधुनिक युग का तत्वज्ञाता तटस्थ साहित्य-समीक्षक यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि रसध्वनि की महत्ता स्वतःसिद्ध है। रसानुभूति के भीतर रसाधारणीकृत सहज भावों की प्रेषणीयता (सवेदनशीलता) के कारण मानव की अंतःकरणस्थ भावनाओं का जो मर्मस्पर्शी उद्‌बोधन होता है वह सहज ही मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। मानव-हृदय में संस्काररूप से निहित रत्यादि स्थायीभावों का विभावादि द्वारा साधारणी-करण तन्मयता की एक ऐसी अवस्था है जो अतीव मर्मस्पर्शिनी है। साहित्य-जगत् में उसे पारिभाषिक शब्दों में चाहे हम स्वीकार करें या न न करें, पर विभावादि के द्वारा भावों का उद्बोधन सभी को स्वीकार करना पड़ता है। और यह भी मानना पड़ता है कि वासना और अनुभूति काव्य में सर्वश्रेष्ठ तत्व हैं। उनके माध्यम से ही कविता के सौंदर्य का अभिव्यंजन सबसे अधिक रमणीय और कलात्मक होता है। अतः रसवाद के विवाद को

छोड़ कर यदि हम उस प्रणाली का आन्तरिक विश्लेषण करें तो निष्पक्ष दृष्टि से विवेचन करने पर हमें यही कहना पड़ेगा कि अभिव्यजन-शैलियों में रस के माध्यम से होने वाली अभिव्यक्तियाँ, चाहे उनका कुछ भी नाम क्यों न हो, सबसे अधिक अभिरम और चारु होती हैं। आत्मानुभूति–व्यंजक, आज के प्रगीत और मुक्तक काव्यों की रचना-शैलियां भी भावना और अनुभूति-तत्वों के माध्यम से ही सहृदय-हृदय को अत्यंत रमणीय जान पड़ती हैं। अस्तु, कहने का तात्पर्य यह है कि गुण-रीति, शब्दालंकार अर्थालङ्कार, शब्दशक्ति और रसभावादि के माध्यम से,—अनुभूति–प्रकाशन काव्यकार की, कविता-प्रणेता की कलाएं हैं, जिनके द्वारा शब्द और अर्थ के समूह में सौंदर्य का सर्जन करके वह शब्दार्थ को साहित्य का प्रतिष्ठित और प्रशस्त संमान प्रदान करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्य और सौंदर्य का कितना घनिष्ठ सम्बंध है।

आज का आधुनिक हिंदी कवि भी इन्हीं सौंदर्याधायक कला की सर्जना के द्वारा अपने काव्य की रमणीय प्रभावशीलता की वृद्धि में दत्तचित्त है। और इसी प्रयत्न में वह आधुनिक काव्य-धाराओं की सृष्टि कर रहा है। छायावाद रहस्यवाद, कल्पानावाद, अभिव्यञ्जनावाद, प्रतीकवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि आधुनिक युग के समस्त काव्य-साहित्यवाद वस्तुतः उसी सौंदर्य-प्राप्त के साधन हैं जो कलाकार का चरम लक्ष्य है। आधुनिक हिंदी-काव्य में सौंदर्याभि-व्यक्ति का परिचय देते हुए कुछ आधुनिक वादों की संक्षिप्त चर्चा आगे की जायगी। प्रस्तुत प्रकरण समाप्त करते हुए यहाँ केवल इतना ही कहना है कि सौंदर्याभिव्यञ्जन ही वस्तुतः साहित्य तथा उसके अंग-विशेष काव्य का प्रतिपाद्य और साध्य है।

द्वितीय उन्मेष

विभिन्न युगों में सौन्दर्य-निरूपण

भारत की शस्य-श्यामला भूमि में उत्पन्न होने वाले सरल निरीह शिशु ने प्रारम्भ से ही अपने चारों ओर एक विचित्र आकर्षण और मादकता से भरा संसार पाया। प्रकृति के हरित कोमल मृदुल पालने में झूलते-झूलते उसने रमणीय पदार्थों में रमण करने वाली शक्ति को पहचानना प्रारम्भ कर दिया। शनैः-शनैः प्रकृति से उसका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होने लगा, उसे लगा जैसे वन के पक्षी, तरु, लता, सुमन, सरिता, तड़ाग सभी उसके आत्मीय हैं। तपोवनवासी निर्लिप्त मुनिवृन्द भी इस मोहक वस्तु से दूर न हट सके और उन्होंने अपने शब्दों में इसे रमणीय, चारु और सुन्दर कह कर पुकारा। उषा की अरुणाभा से आलोकित प्राची की शोभा ने, भ्रमरों की रुनझुन के साथ कमलवन की मुस्कान ने उसे उल्लास से भर दिया। पक्षियों का सुमधुर गान, वृक्षों की पंक्तिबद्ध श्रेणी, सब जैसे अलग-अलग भावों को उद्दीप्त करने में तत्पर बैठे थे। कहना नहीं होगा कि जैसे आदि के आदि अरुणोदय में मानव की अलसाई दृष्टि प्रकृति के विस्तृत प्रांगण पर पड़ी उसी प्रकार साहित्य ने भी प्रकृति के सम्मोहक वातावरण में प्रथम बार आँख खोली। उस युग में, जिस समय मानव धर्म कठिन कर्तव्य, दया, स्नेह, उदारता आदि गुणों से पूरित, तपोवन के धूम्र से भरित था, धर्म-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ था, उस समय भी सौन्दर्य-प्रतिभा आवृत न हो सकी। धूम्र से लाल नेत्रों में भी सौन्दर्य-पारखी प्रतिभा छिपी थी जो ऋग्-वेद में उषा सूक्तों के रूप में प्रस्फुटित हुई। यही थी सौन्दर्य की, रमणीयता की प्रथम साहित्यिक अभिव्यक्ति—

उषो भद्रेभिरा गहि दिवश्चिद्रोचनादधि।
वहन्त्वरुणप्सव उप त्वा सोमिनो गृहम्॥

[ऋग्वेद, अष्टक १ सू० ४९]

उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत ।
अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः ॥
अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्
ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः

[ऋग्वेद, अ० १ सू० ९२]

हे उषा, देदीप्यमान आकाश से शोभन (प्रकाश-युक्त) पथ द्वारा आओ, सोमवान् यजमान् के घर में अरुणाभ किरणें तुम्हें ले आवें । अरुण भानु-रश्मियां (उषाएं) उदित हुईं, रथ में जोतने योग्य दीप्तकिरणों को उषा देवताएं रथ में नियोजित करती हैं एवं जैसे पूर्व दिशा आलोक से उद्भासित होती है वैसे ही प्राणियों को भी ज्ञान (प्रकाश) युक्त करती हैं । तदनन्तर दीप्तिमती उषाओं ने उज्जवल किरण (सूर्य) को आश्रय दिया । नर्तकी की भांति उषा अपने रूप को प्रकाशित करती है । और जैसे दोहन वेला में गाएं अपना अधस्तन भाग प्रगट करती हैं वैसे ही उषा भी अपना वक्ष प्रगट करती है । जैसे गोष्ठ को जाती हुई गाएं शीघ्रा करती हैं वैसे ही समस्त विश्व को ज्योतिष्मती करती हुई उषा (पूर्व में) प्रकाशित होती है ।

इसके उपरान्त द्वितीय प्रमुख काव्यग्रन्थ है प्राचेतस का रामायण । इसका प्रादुर्भवन ही एक रमणीय भूमिका लेकर हुआ है । आदि कवि का कल-कंठ उस मादक अलस वातावरण में क्रीड़ा करते क्रौंच-युगल में से एक को तड़पते देख कर फूट पड़ा था । इस ग्रन्थ में सुन्दरता और करुणा, दोनों का सामंजस्य हो गया है । सौन्दर्य-क्षेत्र में वृद्धि हुई, सौन्दर्य करुणा का सहारा ले अन्तस् में उतर गया । प्रकृति का मादक आह्लाद शोक और पीड़ा में बदल गया । यह प्रकृति का दूसरा रूप था, करुण था । इससे भी मानव विलग न हो सका । प्रकृति के इस विस्तृत विवेचन से केवल यही तात्पर्य है कि प्राचीन काव्य में सौन्दर्य-भावना पर सबसे अधिक प्रभाव चारों ओर छाई हुई सुषमामयी प्रकृति का ही पड़ा । आदि कवि बाल्मीकि के काव्य में प्रकृति की जिस नैसर्गिक शोभा का विस्तृत

और भव्य वर्णन उपलब्ध है उसे देख कर आदि कवि के निसर्ग-प्रेम का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। जिस तन्मयता के साथ उन्होंने वर्षा, शरत् हेमन्त, गंगा, पर्वत आदि का चित्रात्मक वर्णन किया है वह उपर्युक्त उक्ति का साक्षी है। उदाहरणार्थ—

> **व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पैर्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।**
> **मयूरकेकाभिरनुप्रयातं शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति॥**
> **रसाकुलं षट्पदसन्निकाशं प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकामम्।**
> **अनेकवर्णं पवनावधूतं भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम्॥**
> **मुक्तासकाशं सलिलं पतद्वै सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम्।**
> **हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगाः सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबन्ति॥**

पहाड़ी धातु से (गेरु से) ताम्रवर्ण, सर्ज और कदम्ब के फूलों से व्यामिश्रित, पिहकते हुए मोर की केका से गुंजित जलवाली पहाड़ी नदियाँ द्रुत वेग से बह रही हैं। रस से भरे हुए, भौंरों से दीख पड़ने वाले जामुन के फल खूब खाए जा रहे हैं। पवन से झकझोरे हुए रंग-बिरंगे आम्रफल पृथ्वी पर गिर रहे हैं। पत्रपुटों में लगे हुए मोती से सुडौल निर्मल जल-बिन्दु गिर रहे हैं, जिस सुरेन्द्र—दत्त जलकणों को प्यासे पक्षी पर फैला कर प्रसन्नता से पी रहे हैं। कवि ने कितने ही व्यापारों को एक ही लड़ी में गूंथ दिया है। पंच-बटी में लक्ष्मण हेमन्त का कैसा दृश्य देख रहे हैं इसका भी उदाहरण लें—

> **अवश्यायनिपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला।**
> **वनानां शोभते भूमिर्निविष्टकरुणातपा॥**
> **स्पृशँस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।**
> **अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥**
> **अवश्यायतमोनद्धा नीहारतमसावृताः।**
> **प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः॥**
> **वाष्पसञ्छन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसा।**
> **हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो 'भांति साम्प्रतम्॥**

यहाँ भी कवि का प्रकृति-अनुराग स्पष्ट लक्षित है। आदि काव्य के अनेक ऐसे स्थल उस काल की प्रकृति एवं मानवेतर बाह्य प्रकृति में रमे हुए कवि-हृदय के द्योतक हैं। मानव-सौन्दर्य का चित्रण एक तो हुआ ही नहीं, यदि हुआ भी है तो केवल आवश्यकतानुसार वीर, धीर, निर्भीक, आदर्श राम में उन्हीं रूपों का आरोप हुआ है जो एक वीर क्षत्रिय में आवश्यक हैं। उनके मुख पर शौर्य की दीप्ति है, तेज की कान्ति है। विशाल वक्षस्थल है, भुजाएं जानु तक पहुँची हुई हैं—

बुद्धिमान्नीतिमान् वाग्मी श्रीमान् शत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥
समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवान् शुभलक्षणः॥

[बाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड]

प्राचीन संस्कृत के प्रमुख कवियों में बाल्मीकि के पश्चात् महाकवि कालिदास का स्थान आता है। बाल्मीकि के काव्य में रति के आलम्बन और उद्दीपन विभावों, अनुभावों, कामिनियों की ललित चेष्टाओं एवं वासनात्मक सौन्दर्य की ओर अधिक अनुराग नहीं दिखाई पड़ता। पर कालिदास की कल्पना-प्रसूत रचनाओं में शृंङ्गार के समस्त अवयवों का वर्णन बड़ी तल्लीनता के साथ मिलता है। इसीलिए प्राचीन साहित्यकों ने शृंङ्गार के ललितोद्‌गार में कालिदास का यश वर्णित किया है। और इसी लिए कविता-कामिनी के मूर्त रूप का वर्णन करते हुए एक कवि ने "कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः" से उनकी प्रशंसा की है। किन्तु शृंगारी वर्णनों के अतिरिक्त प्रकृति के यथार्थ नैसर्गिक और सफल चित्रांकन में भी कालिदास संस्कृत साहित्य में सफलता से मुखर हो उठे हैं। उन्होंने प्रकृति और मानव के सौन्दर्य का सुखद सांमजस्य उपस्थित किया है। एक ओर तो उन्हें नारी-सौन्दर्य के सर्वांगीण चित्रण में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है और दूसरी ओर प्रकृति का परम अभिरम चित्रण उनकी सहज व्यक्तिगत अनुभूतियों का पूर्ण दिग्दर्शक है। मेघ जब सन्देश लेकर जायगा तब मुग्धा कृषक

बालाएं किस सरल दृष्टि से उस ओर देखेंगी, यह कवि-कुल-कलाधर कालिदास की तूलिका से चित्रित हो जाग उठा है—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभिक्षेत्रमारुह्यमालं—
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥

[पूर्वमेघ, १६]

इतना ही नहीं चपला की चमक से भयभीय कातर चकितनयनों को देखे बिना नयनों का होना ही व्यर्थ है—

विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोसि ।

कालिदास के नारी-सौन्दर्य की आदर्श–कल्पना विरहिणी यक्षिणी के वर्णन में केवल एक ही श्लोक में निहित है—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणिप्रेक्षणा निम्मनाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां,
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ।

[उत्तर मेघ, २२]

वर्ण्य विषय के कारण ही आदि कवि की रचना में प्रकृति की अपेक्षा श्रद्धेय नायक-नायिका (सीताराम) के वर्णन में रूप चर्चा कम हुई है, यह नहीं कहा जा सकता । कालिदास के कुमारसम्भव में नायक-नायिका शंकर-पार्वती भी दिव्य पात्र हैं, पर मातृतुल्य पार्वती के नखशिख वर्णन में ही नहीं अपितु उनके सम्भोग-श्रृङ्गार वर्णन में भी कविने पूरा एक सर्ग ही लगा दिया है । किन्तु उनके काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य-प्रेम और मानव-सौन्दर्य-प्रेम का अत्यन्त रमणीय सामञ्जस्य हुआ है । निसर्ग-कन्या शकुन्तला जहां एक ओर अपूर्व सुन्दरी किशोरी है वहां दूसरी ओर प्रकृति पालिता बालिका भी है और उसके सौन्दर्य की सम्पन्नता प्रकृति से परिपुष्ट है । तपोवन की तरु-लताओं

की ममता, पुनीत प्रसूनों के प्रति अनुराग, पादपों को जल पिलाए बिना स्वयं जल न ग्रहण करना शकुन्तला के अगाध स्नेह के परिचायक हैं। यह चित्रण कालिदास के प्रकृतिप्रेम की ही प्रतिच्छाया है। प्रियमंडना, (शृंगार की अनुरागिणी) होने पर भी प्रकृति-बाला शकुन्तला पुष्पों और पल्लवों को तोड़ती नहीं, 'नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्'' और इसी से शकुन्तला के अभुक्तपूर्व यौवन तथा शरीर–सौन्दर्य का आलंकारिक वर्णन करने हुए कवि कह उठता है:—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैः। इत्यादि एवं
सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्।

यहां प्रस्तुत की रमणीयता और चारुता का अंकन भी प्रकृति के अत्यन्त रमणीय एवं व्यक्तिगत अनुभूति से प्राप्त प्रकृति के माध्यम से ही किया गया है। इसके अतिरिक्त समुद्र-वर्णन प्रभात-वर्णन, गंगा-यमुना का संगम–वर्णन, हिमालय-वर्णन एवं रघु के दिग्विजय–वर्णन में भौगोलिक यथार्थ दृश्यों का वर्णन ऐसे ही अंकन हैं जो महाकवि के प्रकृति-प्रेम के एवं सूक्ष्म निरीक्षण के परम ज्वलन्त प्रमाण है।

शनैः-शनैः आगे के कवियों में इस स्वतन्त्र स्वाभाविक पर यथार्थ चित्रांकन-प्रवृत्ति में धीरे–धीरे ह्रास होता गया। भवभूति में प्रकृति का परम मनोरम वर्णन मिलता है, कादम्बरी में भी आलंकारिक रीति से प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया हैं। पर वह वणन भी कवि के अविचल प्रकृति-प्रेम और तन्मय होकर सूक्ष्म निरीक्षण का ही परिचायक है। दूसरी ओर भारवि, माघ, भट्टी, आदि कवियों में आलंकारिक रूढ़ि–वर्णन का प्राबल्य बढ़ता लक्षित होता है। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी कि नैषध में नल के उद्यानस्थ वृक्ष में फले हुए बेल का वर्णन करते हुए कवि कह उठा है—

स वारनारीकुचसञ्चितोपमं
ददर्श मालूरफलं पचेलिमम्।

[नैषध, स० १]

बृहत्त्रयी के सर्वश्रेष्ठ, प्रौढ़ और प्रगल्भ कल्पनाओं के आगम नैषध महाकाव्य में जिस तन्मयता और अनुरक्ति से मानव सौन्दर्य की, नल और दमयन्ती के शारीरिक वासनात्मक रूपज्वाला की, प्रदीप्ति चमकती दिखाई देती है, वह प्रकृति वर्णन में नहीं। यदि हंस संमुख आता है तो वह भी सोने का होकर। इसी प्रकार अप्रस्तुत रूप से आने वाले प्रकृति के चित्रण में भी कवि की कल्पना-प्रौढ़ता और पांडित्य का ही दिग्दर्शन अधिक लक्षित होता है। हेतूत्प्रेक्षा और वस्तूत्प्रेक्षा के द्वारा कवि की प्रौढ़ता के ही द्योतक काव्य-योजना में उनकी समस्त कला विकसित हुई है।

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत् पदतामवापतुः।
ध्रुवमेत्य रुतः सहंसकी कुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती ॥
[नैषध, सर्ग २,३८]

श्री हर्ष की दृष्टि से उपमान कमल और हंस-कूजन तपस्या के बाद दमयन्ती के चरण और नुपुर-शिंजित की प्रतिष्ठा को पा सके, उन्हें सूर्य की सेवा और ब्रह्मा की आराधना करना पड़ी।

प्रकृति का आबालवृद्ध-अभिरम नैसर्गिक, सौन्दर्य महान् सौन्दर्य की अपेक्षा विरहिणी के वियोग-उद्दीपन का कारण है, अतः वह उपालम्भ का ही पात्र है। यद्यपि नैषध का चन्द्रोपालम्भ संस्कृत साहित्य का एक अपूर्व रत्न है तथापि उसमें प्रकृति-सौन्दर्य की अपेक्षा शृंगारांग-वर्णन की ओर अधिक झुकाव है। निम्नांकित श्लोक उपर्युक्त कथन की पुष्टि के प्रमाण हैं—

अयि, विधुं परिपृच्छ गुरोः कुतः स्फुटमशिक्ष्यत दाहवदान्यता।
ग्लपितशम्भुगलाद् गरलात्त्वया किमुदधौ जड ! वा बड़वानलात् ॥
[नैषध, ४-४८]

विरहिवर्गवधव्यसनाकुलं कलय पापमशेषकलं विधुम्।
सुरनिपीतसुधाकमपापकं ग्रहविदो विपरीतकथाः कथम् ॥
[वही, ४-६२]

सकलया कलया किल दंष्ट्रया समवधाय यमाय विनिर्मितः ।
विरहिणीगणचर्वणसाधनं विधुरतो द्विजराज इति श्रुतिः ॥
(वही ४-७२)

"हे सखि, चन्द्र से पूछो कि उसने विरहिणियों को सन्ताप दान की उदारता किस गुरु से सीखी ? शम्भु का कंठ जलाने वाले विष से (जिसके पास वह रहता है) अथवा उदधि में (रहता हुआ) बड़वानल से ।

'ज्योतिषी लोग जो पूर्ण चन्द्र को शुभग्रह और अमा चन्द्र को पाप-ग्रह कहते हैं, यह नितान्त विपरीत कथा है । विरहीजनों की हत्या का व्यसनी, पूर्णचन्द्र ही वस्तुतः परम पापी है और देवों द्वारा सुधापान कर लेने से अमा का क्षीण चन्द्र वस्तुतः पुण्यग्रह है । (क्यों कि एक तो वह विरहिणियों को दुख नहीं देता दूसरे उसकी क्षीणता का कारण देवों को सुधादान करना है) ।"

"विरही जनों को चबा जाने में परम निपुण चन्द्र का नाम द्विजराज इसलिए है कि ब्रह्मा ने यमदंष्ट्रा की समस्त कलाओं के योग से द्विजराज रूपी दन्तराज का निर्माण विरहिणियों को चबा जाने के लिए किया है । (अर्थात् यह द्विजराज चन्द्र वस्तुतः विरही-पीड़क यमराज का दन्तराज)"

इस भाँति संस्कृत के कुछ अमर कलाकारों के प्रकृति-वर्णन की संक्षिप्त झलक देख चुकने के उपरान्त हिन्दी के कवियों का समय आता है । उक्त कवियों में शनैः-शनैः परिवर्तन होता जा रहा था । जो वृत्ति केवल प्रकृति तक परिमित थी वह अब प्रेयसी में उतर आई । उसका क्षेत्र कुछ उन्मुक्त हुआ, वह समस्त मानव के सौन्दर्य-प्रकाशन की ओर झुकने लगी । कविकुल-तिलक कालिदास ने मानव सौन्दर्य का बाल्मीकि की अपेक्षा अधिक वर्णन किया है । किन्तु उनकी उर्वशी, उनकी पार्वती तथा शकुन्तला सभी प्रकृति की पुनीत प्रतिमाएं हैं । तपोवन-वासिनी कण्वपालिता शकुन्तला तो प्रकृति की बालिका ही है ।

हिन्दी के प्रारम्भिक युग वीरगाथा काल में जब एक ओर साहस दूसरी ओर सुन्दरी, ही आकर्षण के केन्द्र थे उस समय तत्कालीन कवियों की सौन्दर्य-

में मानव सौन्दर्य मुखर हो उठा है। उनकी सौन्दर्य-भावना प्रकृति से विमुख सी दिखाई पड़ती है। यदि प्रकृति-सुन्दरता की कोई झलक दिखाई पड़ी भी तो या तो उद्दीपन के रूप में अथवा अप्रस्तुत रूप में। वियोग की भावना उद्द्‌ स करने के लिए आकाश में छाए हुए बादलों या निर्मल नीलाम्बर में झिलमिल तारों को अचल में लेकर छिटकी हुई चांदनी का निर्देश कर के उनका प्रकृति-प्रेम थक जाता है। किन्तु जब नारी और नारी के नखशिख, अनुभाव, आदि का वर्णन करना होता है तो उनकी प्रतिभा नखशिख वर्णन और नायिकाभेद तथा अनुभावादि के शास्त्र-वर्णित रूढ़-वर्णनों की अपेक्षा अनेक मौलिक एवं नए व्यक्तिगत अनुभव से प्राप्त, सौन्दर्य का वर्णन करती है। राधा का रूप-वर्णन करते समय कहीं-कहीं प्रकृति का उल्लेख मिल जाता है। वह भी केवल इसलिए कि समस्त प्राकृतिक उपकरण उस रूप से ही उद्भासित हैं, समस्त मंजुल प्राकृतिक पदार्थों का सार वही है—

चांद सार लए मुख घटना करु
लोचन चकित चकोरे
अमिय धोय आंचर धनि पोछिल
दह दिसि भेल इंजोरे।

[पदावली, १४]

रूप-सौन्दर्य का वर्णन जयदेव एवं संस्कृत कवियों से प्रभावित है। किन्तु विद्यापति के सौन्दर्य-निरूपण की अपनी ही मौलिक और आकर्षक पद्धति थी—

"सजनी अपरुप पेखल रामा
कनकलता अवलम्बन ऊअल
हरिन - हीन हिम - धामा।"

[पदावली]

सौन्दर्य किसी उपकरण की अपेक्षा नहीं करता, उसे बाह्य कृत्रिम उपादानों की आवश्यकता नहीं, भावुक कलाकार को अपनी राधा में भी वही सहज छवि दृष्टिगत हो रही है।

सहजहि आनन सुन्दर रे।

कहीं-कहीं सौन्दर्य की सर्वव्यापिनी झलक कवि को मानव जगत् से ऊँचा उठा देती है, वह अलौकिक हो उठता है। जहाँ-जहाँ राधा के चरण युग पड़ते है वहाँ-वहाँ सरोरुह हो जाते हैं, जहाँ उसके गति की चम्पकद्युति झलक जाती है वहीं विद्युत् उत्पन्न हो जाती है—

जहाँ-जहाँ नयन विकास तहिं-तहिं कमल प्रकास
जहँ-जहँ लहु हास संचार तहिं-तहिं अमिय विकार

कविता का सौन्दर्य वहीं है जहाँ वह संसार के अव्यक्त सौन्दर्य को व्यक्त कर देती है[1]। विद्यापति की कला उसी सौन्दर्य को व्यक्त करने में कुशल उतरी है। कवि का सौन्दर्य निरावरण है, अंग-प्रत्यंग में झलक रहा है, रहीम जी के दो नेत्र ही प्रणय का उद्घाटन करते हैं—

कहि रहीम एक दीप तें परगट सब द्युति होय।
तनु - सनेह कैसे दुरे दृग - दीपक जहँ दोय॥

किन्तु विद्यापति की राधा का अंग-प्रत्यंग प्रेम की झलक दिखा रहा है—

गुरुजन समुखहि भाव - तरंग
जतनहि बसन झांपि सब अंग।

आगे चल कर तुलसी द्वारा शक्ति-शील और सौन्दर्य के निधान राम में जिन आदर्शों का आरोप हुआ है उसकी झलक विद्यापति में पूर्वतः ही विद्यमान है। कृष्ण के सौन्दर्य और शील की दुहाई देना विद्यापति भूल नहीं सके हैं—

तऊ सुन गौरव सील सुभाव।
सुनि कए चढ़िलिहु तोहरि नाव॥

तुलसी ने अनेक सौन्दर्यमय स्थलों का वर्णन किया, केवल उपयुक्त सौन्दर्य लाने के लिए। उनके रूपराशि राम, आयु के साथ—

सरद मयंक बदन छवि सींवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥

---

1 "Poetry is that which lifts the veil from the hidden beauty of the world".—(Shelley)

अधर अरुन रद सुन्दर नासा। बिधु-कर निकर बिनिंदक हासा॥
निज अम्बुज अंबक छबि नीकी। चितवन ललित भावती जी की॥
[मानस]

...सा नवीन सौन्दर्य प्राप्त कर लेते हैं। उसी समय उनमें शक्ति का भी समावेश हो जाता है। भूमि का भार उतारने की मंगलमयी शक्ति का रूप निखर आता है—

केहरि कंधर चारु जनेऊ। बाहु विभूषन सुन्दर तेऊ॥
करि-कर-सरिस सुभग भुजदण्डा। कटि-निषंग कर सर-कोदंडा॥

रूप और लावण्य के बीच प्रतिष्ठित होने से शक्ति और शील को अधिक सौन्दर्य प्राप्त हो गया है, एक अपूर्व मनोहरता आ गई। सूर-तुलसी के पूर्व-कवियों में सौन्दर्य परखने की वह दृष्टि न थी जिसमें लोक-मंगल की अमर अभिलाषा छिपी हो, कोमलता की मृदुलता सन्निहित हो, सहज मोह लेने की शक्ति हो। सौन्दर्य वहीं अपनी चरम सीमा पर पहुँ-चता है जहाँ वह निष्काम सहज आनन्द प्रदान करे। किसी सहज सुन्दर बालक को देख कर हृदय की ईष्या-द्वेष-पूर्ण ग्रन्थि खुल जाय, 'यह शत्रु का है', 'मित्र का है' यह भेद-भाव मिट जाय, स्वार्थ पर आवरण पड़ जाय, उसी समय सुन्दरता का सरल स्वरूप स्थापित हो सकता है। *राम-लक्ष्मण के लावण्य पर साधारण जन तो मोहित है ही, किन्तु विदेहराज विरागी जनक को भी वह अपरिमित सौन्दर्य आकृष्ट कर रहा है—

सहज विराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चन्द चकोरा॥

यह सत्य है कि राम-लक्ष्मण साधारण मानव नहीं किन्तु सौन्दर्य सदा ऐसा ही आकर्षणमय हुआ करता है, आनन्द को भी आनन्द प्रदान करता है—

सुन्दर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनन्दहु के आनँद दाता॥

---

* बाल राम की मोहक छवि-द्युति देखकर ठगासा रह जाना उतना आश्चर्य-जनक नहीं जितना जो न ठगे गए हैं उन धिक्कार भाजनों का हृदय—

अवलोकि हौं सोच-विमोचन को ठगि सी रही जे न ठगे धिक से।

तभी नन्हें-नन्हें बालक उनकी शोभा देख कर पुलकित हो रहे हैं। उनके कोमल शरीर-स्पर्श का सुख पाने के लिए, मृदुल गात का परस करके पुरी दिखला रहे हैं—

सब सिसु एहि मिस प्रेम बस परसि मनोहर गात।
तन पुलकहि अति हरषु हिय देखि देखि दोउ भ्रात॥

आबालवृद्धवनिता सब पर उनका सम प्रभाव है। तभी तो उनका वर्णन करते समय "गिरा अनयन नयन बिनु बानी" की अवस्था आ जाती है। रूप-शील-गुण-आगरी सीता का लावण्य और भी पुनीत है।

सरस और सुन्दर के सहृदय कवि सूर ने अपने आराध्य में सौन्दर्य को साकार ही कर लिया है। यह सौन्दर्य-प्रतिमा राधा-कृष्ण के रमणीय रूपों में प्रत्यक्ष हुई है। सूर कृष्ण के भोले बाल-सौन्दर्य पर मुग्ध हुए थे। उन्हें बालकों की निरीह क्रीड़ा में, उनकी चपल चालों में अधिक आनन्द आता था, और तभी उन्होंने ब्रह्म के उसी अनुपम अलैकिक रूप को बालकृष्ण में देखा। उनके बालकृष्ण बाह्य दृष्टि से संसार के प्राणी हैं, सरल बालकोचित तुतलाती वाणी में पूछ बैठते हैं—

"मैया कबहुँ बढ़ेगी चोटी।
इतैं बार मोंहि दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी" ॥

किन्तु सूर के अन्तश्चक्षुओं से देखने पर उनका भी लोकातीत स्वरूप प्रकट हो जाता है—

अवगति गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगो मीठो फल को रस अन्तर्गत ही भावै॥
मन बानी को अगम अगोचर जो पावै . . . . .

हम पूर्व के पृष्ठों में देख चुके हैं कि सौन्दर्य रूप की अपेक्षा करता है। इसी सौन्दर्योपासना की प्रतिकृतियाँ ब्रजबालाएँ उद्धव के लाख समझाने पर भी नटनागर को शून्यमय न देख पाईं। सूर ने झूठी माया का मिथ्यात्व दिखाने के लिए ही सत्य के साकार रूप की सृष्टि की। वे ब्रह्म और माया की, सौन्दर्य और तन्मयता की, वीणा और मूर्छना की रास-लीला

देखने में तन्मय हैं। इसी में उनका अलौकिक आनन्द है, सुन्दर सौन्दर्य है। उनके नटनागर गोपियों के संग जल-क्रीड़ा करते हैं, वन-निकुंजों में केलि करते हैं, माखन चुराकर गोपियों से प्रीति जोड़ते हैं, बंशी की मधुर ध्वनि से कालिन्दी की कलित लहरों की भाँति ही गोपियों के हृदय को आन्दोलित कर देते हैं। सौन्दर्य-सुषमा और सरलता के प्रतीक सलोने श्याम की विचित्र भाव-भंगिमा, रंग-विरंगे दुकूलों की अनोखी छटा, सभी कुछ सूरके अन्तरतम प्रदेश को आकुल कर देती हैं—

"वा पट पीत की फहरानि।
कर धरि चक्र चरन की धावनि, नहिं बिसरति वह बानि॥
रथ ते उतरि अवनि आतुर ह्वै, कच रज की लपटानि।
मानो सिंह सैल ते निकस्यौ, महा मत्त गज जानि।

सौन्दर्य की व्यापकता इस पद में मुखर हो उठी हैं। वस्तु नयनों से ओझल हो चुकी है किन्तु उसकी अनुभूति हृदय को अब भी विह्वल बना जाती हैं, "वा पट पीत की फहरानि" प्रतीत होता, पट के साथ उसी वस्त्र के समतुल्य हृदय भी काँप-काँप उठता है।

कृष्ण में किसी भी प्रेम-लीला का अभाव नहीं है किन्तु सूर माया में लिपटे हुए इस सत्य को भूले नहीं। वह सूर के अन्तर-चक्षुओं में विद्यमान है, इसीलिए तो उस क्रीड़ावलोकन में सूर का कौतूहल भी अधिक बढ़ गया है। उनका सत्य वहाँ ही है जहाँ उद्धव और गोपियों में संवाद हो रहा है, जहाँ वह खीझ कर कह देती हैं—

तौ हम मानै बात तुम्हारी।
अपनो ब्रह्म दिखावहु ऊधो मुकुटपिताम्बरधारी॥

यों तो सभी प्रेममार्गी कवि परमेश्वर की उपासना अनन्त सौन्दर्यनिधि के रूप में ही करते हैं, सौन्दर्यनिधान भगवान् ही उनके मधुर भावों के आलम्बन होते हैं। फिर भी सर के कन्हैया तो मानों स्वयं सौन्दर्य ही हैं। उनके भगवान् सौन्दर्य की परम अभिरम कल्पना से ओत-प्रोत हैं! सौन्दर्य

और भगवान् दो न होकर एक हैं, यही है उनकी सौन्दर्याभिव्यक्ति का रहस्य।

गोस्वामी तुलसीदास के राम शक्ति, शील और सौन्दर्य के निधान हैं। उनके इन तीनों गुणों का विशद चित्रण ही मानस की दृढ़ भित्ति है। राम-सौन्दर्य से उत्प्रेरित आकर्षण उसकी प्रमुख कुंजी है। प्रथम प्रकरण में यह प्रमाणित हो चुका है कि शक्ति और शील, सौंदर्य के विराट् वपु के ही अंग हैं और 'मानस' है उसी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति। तुलसी ने संसार को बाह्य और अन्तस्—दोनों चक्षुओं से देखा है। किन्तु उनके बाह्य चक्षु अन्तश्चक्षुओं को खोलने के लिए ही कला के अनुराग से अनुरंजित हुए हैं। मानस में जहाँ वह निर्गुण निराकर की अप्रत्यक्ष छवि अंकित करते हैं वहां सौन्दर्य की साकार प्रतिमा भी उपस्थित कर देते हैं—

"नील सरोरुह नीलमनि नील-नीरधर श्याम।
लाजहि तनु शोभा निरखि कोटि कोटि शतकाम ॥

सूर और तुलसी दोनों ही सौन्दर्य के कवि हैं। एक के सौन्दर्य में सुन्दरता और क्रीड़ा है, दूसरे के सौन्दर्य में सुन्दरता और साधना। तुलसी का सौन्दर्य सहज सलोना है—

सहज मनोहर मूरति दोऊ।
कोटि काम उपमा लघु सोऊ ॥

गौरी और सीता का वर्णन करते समय कवि की लेखनी बार-बार रुक जाती है। उपमाएँ सारहीन प्रतीति होने लगती हैं। दूसरे, कवि मर्यादा की रेखा में लुक-छिप कर चलना चाहता है। तभी तो…

सुन्दरता मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहु बदन बखानी ॥

कवि कल्पना, "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति" की सीमा का भी अतिक्रमण कर गई है। और होना भी चाहिए। जिसके नुपुरों की ध्वनिमात्र से भुवन-विमोहन राम का चित्त चंचल हो उठा, वह सौन्दर्य अवश्य ही अलौकिक होगा। इसीलिए कवि की उपमाएँ झूठीं प्रतीत होती हैं। वह तो साधारण ललनाओं के चित्रण में ही फीकी पड़ चुकी हैं। तुलसी को सूर के सदृशः—

"भृकुटी विकट नैनन के राजत अति बर नारि।
मनहु मदन जग जीति करि राखेउ धनुष उतारि॥
तखिन सुघर, अधर नक-बेसरि चिबुक चारु रुचिकारि।
कंठसिरी दुलरी तिलरी पर नहिं उपमा कहुं चारि॥"

उपमा खोजने की न आवश्यकता पड़ती है न रीति-कवियों के समान दर-दर भटकने की, वे तो सरलता से कह देते हैं:—

"जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। विरचि विस्व कँह प्रगट देखाई॥"

विधि ने सीता का निर्माण कर अपना कला-नैपुण्य प्रतिष्ठित किया है। वे लावण्य को भी लावण्यमय कर देती हैं—

"सुन्दरता कह सुन्दर करई। छबि-गृह दीप-शिखा जनु बरई" ॥

छवि के स्वतः दीप्त गृह को प्रकाशित करने के लिए सीता दीप-शिखा-सी हैं। कवि की इस सौन्दर्य-विवेचना में सीता की चम्पकद्युति, तनु-अंग-लतिका सभी एक साथ साकार हो उठी हैं। एक ओर यदि राम आनन्द देते हैं तो दूसरी ओर सीता सुन्दरता को सुन्दर बना रही हैं, तभी—

"सब उपमा कवि रहे जुठारी" कहना पड़ता है।

राम के हृदय-पटल पर वह छवि अंकित हो गई है। प्राची दिशा में चन्द्रोदय सीता की मुख-कान्ति की स्मृति सचेष्ट कर देता है, दूसरे ही क्षण—

'सीय वदन सम हिमकर नाहीं" सती के सौन्दर्य को

और भी उद्भासित कर देता है। तभी कवि कुछ चतुर हो उठता है—

"जो छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूप मय कच्छप सोई॥
सोभा-रजु मंदर सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुखमूल!
तदपि सकोच समेत सब, कहहिं सीय सम तूल॥"

'तूल' कहने में भी संकोच हो रहा है। इस प्रकार उत्पादित लक्ष्मी भी सीता के समक्ष नहीं ठहर पातीं। इन पंक्तियों ने सौन्दर्य का आदर्श स्थापित कर दिया है। आगे के सौन्दर्य-वर्णन इसी के अनुकरण, इससे

न्यून अथवा समीप आते से जान पड़ते हैं। इससे अधिक कहने की क्षमता नहीं।

सन्तों की सौन्दर्य—भावना जहाँ विश्व—योगिनी के रूप में दीख पड़ती है वहां रीतिकालीन कवियों की सौन्दर्य—भावना अलंकारमयी अनुरागिनी बन कर अपने अनुपम रूप - लावण्य से माधुर्य–प्रेमियों का मन-मानिक चुराती स्पष्ट लक्षित होती है। यदि भक्तों की सौन्दर्य-भावना अध्यात्मलोक को सुखशान्तिमय बनाने के लिए वाणीमय हुई है तो शृंगारिक कवियों की भावना इह लोक को स्वर्गोपम बनाने के लिए सौन्दर्यानुकूल हुई है। शृंगारी-कवियों ने जहां राधा-कृष्ण के सौन्दर्य और प्रेम को लौकिक एवं गोचर रूप में उपस्थित किया है वहां वे हमारे जीवन के संगीत में एक मधुर झनकार उठा गए हैं। शृंगारी-कवियों से यहां उन कवियों से तात्पर्य नहीं अथवा उन रचनाओं से तात्पर्य नहीं जो, असफल, अविदग्ध एवं अकुशल कवियों की तूलिका से उतरी हैं। इस पथ की ओर इंगित करने वालों में व्यास, जयदेव और सूर ही मुख्य हैं। हाँ, प्रभाव फारसी का भी पड़ गया है। इस पर भी मतिराम सुषमामयी झलक देख रहे हैं:—

"कुंदन को रंग फीको लगे, झलके अति अंगिनि चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि, चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई॥
को बिनु मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई"

मतिराम ने अपने शब्दों में सौन्दर्य की अनूठी कसौटी उपस्थित की है। अधिकांश वस्तुओं की बाहरी चमक, दमक, शोभा और कान्ति आकर्षित करती रहती है किन्तु समीप आने पर उनका वास्तविक रूप रमणीय नहीं रह जाता, "दूर के ढोल सुहावने" वाली गति हो जाती है। किन्तु सौन्दर्य सदा समीप आने पर और निखरता आता है। "ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै" त्यों-त्यों उसमें नित नवीन आभा प्रस्फुटित होती दिखाई पड़ती है। 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' वाली अवस्था आ जाती है। तभी तो उस सौन्दर्य-प्रतिमा का चित्र नहीं खिंच पाता—

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

[बिहारी]

बंकिम मादक चितवन हृदयको बिह्वल बना देता है किन्तु "वह चितवनि औरै कछु जेहि बस होत सुजान" कुछ और ही प्रकार की है जो बरवश अपनी ओर खींच लेती है। रीति-कवियों में मानव-सौन्दर्य अधिक प्रबल हो उठा है। नायक-नायिका अधिकतर वासनात्मक रूप से ही चित्रित हुई हैं, यहां तक कि कृष्ण का सुन्दर आचरण भी कलुषित हो गया है। घर में आग लगने पर उसे बुझाने के बजाय कृष्ण अपनी किसी कार्य-सिद्धि के लिए दौड़ जाते हैं। इसी भाव से प्रेरित एक नायिका भी कहती है:—

"आग लागि घर जारिगा अति सुख दीन।
पिय के हाथ घइलवा भरभर दीन॥"

[रहीम-ग्रंथावली]

अधिकांश कवियों ने लौकिक रति को भगवत्-रति की कंचुकी पहना दी है—

रसिक रीझि हैं जानि तौ ह्वैहै कवितौ सफल।
नतरु सदा-सुख-दानि, श्री राधा-हरि को सुजस॥

कहीं-कहीं नायिका का सौन्दर्य-वर्णन करते-करते कवि ऐसी असंगत बात कहने लगता है कि बुद्धि एक पल भी उस पर ठहरना नहीं चाहती। ऐसे स्थल, बिहारी में भी अनेक मिलेंगे। "पत्रा ही तिथि पाइयत" अथवा 'आड़े दै आले बसन जाड़े हू की रात, साहस कै कै नेह बस सखी सबै ढिग जात'' आदि ऐसे ही दोहे हैं। किन्तु इस फारसीप्रवाह में भारतीय सौन्दर्य को सुरक्षित रख कर बिहारी ने फारसी-कवियों से अपने आप को नीचा नहीं ठहरने दिया है। बिहारी की नायिका अतीव लावण्यमयी है। उसकी स्निग्ध चन्द्रिका सी द्युति के सन्मुख चन्द्र-ज्योत्स्ना फीकी पड़ जाती है:—

वाहि लखै लोइन लगै कौन जुवति की जोति।
जाके तन की छांह ढिग, जोन्ह छांह सी होति ॥

नायिका की वयःसन्धि, प्रियतममिलन की उत्कट अभिलाषा, विरह की दयनीय दशा "कुलकानि" को रखते हुए प्रिय के समीप पहुँच जाना, सपत्नी-द्वेष आदि में कवि की वृत्ति अधिक रमी है। किन्तु उन वर्णनों में भी उसकी सौन्दर्यभावना अवश्य छिपी हुई है। कृष्णा अभिसारिका काले वस्त्रों से भूषित चली जा रही है किन्तु उसका चामीकर सा चमकता कलेवर छिपाए नहीं छिपताः –

निस अँधियारी नील पट्ट पहिरि चली पिय गेह।
कहो दुराई क्यों दुरै दीप-सीखा सी देह ॥
[विहारी-रत्नाकर, २००]

उसके चरणों की स्वभावगत अरुणिमा देख कर नाइन पहले का लगा महावर समझ कर बार–बार छुड़ा रही है। इसी प्रकार नायिका के नयन स्वतः सहज रूप से ही तीक्ष्ण हैं, उन पर और पानी चढ़ाने की आवश्यकता नहीं:—

"अंजनु रंजनु हूं बिना खंजनु-गंजनु नैन"

सहज 'सोभा' को साज–सजा की अपेक्षा नहीं:—

तन भूषन, अंजन दृगनु, पगनु महावर रंग।
नहिं सोभा कौ साजियतु, कहिबे ही को अंग ॥
[बिहारी-रत्नाकर]

यह कोमल कल्पना यदि एक ओर नायिका के परम्परागत वर्णन की सूचना देती है तो दूसरी ओर 'जिसे खूबी खुदा ने दी नहीं मोहताज जेवर का' भी स्पर्श कर रही है। अव्वल तो उसकी द्युति में भूषण पहचाने ही नहीं जाते और यदि किसी प्रकार पहचान में आते हैं तो दर्पण के मोरचे से प्रतीत होते हैं। अंग-राग उसके सलोने शरीर पर लगे हुए धब्बों से दृष्टिगत होते हैं। इतना ही नहीं, नेत्रों में मैल निकल सकता है।

किन्तु नायिका के सुघर शरीर में नहीं, इसीलिए भूषण एक प्रकार से भलाई ही कर रहे हैं:—

"दृग-पग पोंछन कौ करे भूषन पायँदाज"

बिहारी की सौन्दर्य–निरूपिणी कला कभी-कभी बाह्य जगत् पर भी पहुँच जाती है:—

'सघन कुंज छाया सुखद सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौ वहैं वा जमुना के तीर, ॥"

निदाघ के झुलसते हुए ताप से पीड़ित एक स्थान पर एकत्र विरोधी पशुओं का चित्रण एक चित्र सा उपस्थित कर देता है—

'कहलाने एकत बसत अहि-मयूर मृग-बाघ।
जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ ॥'

घनानन्द अपने सौन्दर्य का निरूपण पहले ही 'सुन्दरतानि के भेद' के भीतर कर देते हैं। घनानन्द तुलसी-से भोले तथापि दृढ़ भक्त हैं, उनमें अनन्यता है किन्तु वे शान्त नहीं बैठ सकते—

"ऐसे घनानन्द गही है टेक मन माँहि .
ऐ रे निरदई तोहिं दया उपाजाइ हौं।"

यही इनकी दृढ़ प्रेम-भावना है जो इनके सौन्दर्य को निरन्तर परिपुष्ट करती चली है। इस कवि की सौन्दर्याभिव्यक्ति में वंसत्र भाव की ही प्रधानता है। सम्भोग-शृंगार में या तो नायिका का सौन्दर्य अंकित है या कहीं-कहीं नायक-नायिका की प्रेम क्रीड़ाओं एवं रमणीय चेष्टाओं का चित्रण है। यदि राधा-कृष्ण कभी होली खेलने में मग्न होते हैं "ढीठि मिले मुरि पीठ दई" तो "हिय हेतकी बात सकै कहि को है" भी कह देते हैं। सौन्दर्य-वर्णन के रूप में नायक-नायिका सहज सुंदर अंगों की शोभा का संकेत घनानन्द ने भी परम्परा के अनुरूप ही किया है। सोकर उठती हुई नायिका की मुद्रा देखिए:—

"रस रैन जगी प्रिय प्रेम पगी, अरसानि सो अंगनि मोरति है।
मुख ओप अनूप विराज रही, ससि कोरिक बारने कोरति है ॥

अंखियान में छाकन की अरुनाई, हिए अनुराग लै बोरति है।
घनआनन्द प्यारी सुजान लखै, उर डीठि हितू तिन तोरति है॥

घनानन्द की सौन्दर्य-निरूपिका शैली में किंचित् अन्तर पड़ गया था। सुजान के हांथ को न तो वह मृणाल की भांति कह कर चुप हो जाते थे और न कोई और उपमा ढूढ़ने में परेशान। वह तो उसे मन मुट्ठी में कर लेनेवाला कहते हैं। घनानन्द की प्रेम-पारखी कविता वासनात्मक प्रेम को लेकर नहीं चली। या यों कह सकते हैं कि परम्परा का अन्धानुसरण नहीं हुआ—

"सिसुताई निसि सियराई बाल ख्यालनि में,
जोबन विभाकर उदोत आभा है रली।
गमागम बसो भयो रस को सुभागम ही,
आगे ते अधिक अब लागन लगी अली॥

घनानन्द ने कहीं आभूषणों की भी चर्चा कर दी है किन्तु कहते यही हैं।

"तेरी बिना ही बसाय की बानिक जीते सची रति रूप भलापन"

इसके अतिरिक्त उन्होंने जगह-जगह पर संकेत किया है।—

"रावरे रूप की रीति अनूप नयो-नयो लागत ज्यों-ज्यों निहारिये"

यह तो पुरानी बात हो चुकी जिसकी विशेष चर्चा अनावश्यक है। नेत्र, कटाक्ष, हाथ, पैर, पीठ, कमर, सभी का वर्णन इन्होंने किया है किन्तु न तो उन्हें कभी—

"आसमा हिलने लगा और जलजले आने लगे।
शक्ल जब देखी तुम्हारी गश पे गश आने लगे॥

—कहना पड़ता है—न कमर किधर है, कहां है, कहने की नौबत आई, एक अनूठे ढंग से अपनी साधारण पर अनोखी उक्ति कह देते हैं।

"अलख अनूप लटपटी सुलपेटी रूप,
अलग लगीसी तामे केती सूधी बाँक है।
चल चित चोरे मुरि मनहि मरोरे सुठि,
सुभग सुदेस अलबेली तेरी लाँक है।

कविवर बिहारी ने नायिका के स्वाभाविक सौन्दर्य को सराहा है। सेनापति ने एक बार नायिका को व्यर्थ शृंगार से "बरजा था" था। फिर भी अलंकारों का बोझ लादा ही गया। किन्तु घनानन्द की दृष्टि नपी-तुली थी:—

"तू अलबेली सरूप की रासि सुजान विराजती सादे सुभायनि"।

इतना ही नहीं उन्हें तो भूषण दूषण से लगने लगते हैं।

"छोरि छोरि धरे जे जे भूषन विदूषन से,
तहां तहां लगि लोभी मन गयो गसि है।"

और यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखें तो कह सकते हैं कि उनकी उक्तियों में "सगुन सलोने रूप" की प्यास नहीं बुझती:—

त्यों त्यों प्यासेइ रहत ज्यों ज्यों पियत अघाइ।
सगुन सलोने रूप की जुग चख तृषा बुझाइ॥

किन्तु कवि किसी पर अपनी सौन्दर्य-भावना का वरबस आरोप करना नहीं चाहता, वह उस वस्तु या व्यक्ति को स्वच्छन्द छोड़ देता है:—

"भावरि अनभावरि भरे करौ कोरि बकवाद।
अपनी अपनी भांति कौ छुटै न सहज सवाद।"

यह इस कारण कि सौन्दर्य के लिए दृष्टि की आवश्यकता है, कोई किसी को प्यारा लगता है तो कोई किसी को। एक ओर कोई भक्त भगवान् को पाने के लिए विह्वल है तो दूसरी ओर प्रेमी भगवान् की अवलेहना कर रहा है:—

"किसी ने जा कहा मजनू से, तुझे अल्लाह बुलाता है
कहा मजनू ने कह दो उससे लैला बन के आ जाए"।

बिहारी ने भी अपने अनुभव से सौन्दर्य की छोटी सी तथापि विस्तृत रेखा खींच दी है:—

समै समै सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जिते नित तेती रुचि होय॥"

इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए भारतेन्दु के पूर्व तक की हिन्दी काव्य धारा बहती रही। जायसी और कबीर, सूर और तुलसी ने जिस व्यापक परम सौन्दर्य का साक्षात्कार किया, जिस सुषमा की धारा से विश्व के कण-कण को ओतप्रोत होते देखा, उस शाश्वत तथा परम व्यापक सौन्दर्य का दर्शन उनके पश्चात् मध्यकालीन कवियों को न हो पाया। उनकी सौन्दर्य-दृष्टि स्थूल और बाह्य सौन्दर्य के आवरण में छिपी हुई अनन्त, अगाध एवं अपरिमेय सुषमा का दर्शन न पा सकी। अतः उनकी सौन्दर्याभिव्यक्ति प्रायः रूढ़ि और परम्परा का अनुसरण करके ही शान्त सी जान पड़ती है। कुछ-कुछ ऐसा प्रतीत होता है मानों जो कुछ हमारी भौतिक इंद्रियों से जाना जा सकता है, जो कुछ इनका प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है, उसके अतिरिक्त विलास-विलसित मानव जीवन में कुछ है ही नहीं। यद्यपि कहीं-कहीं कोई-कोई कवि स्थूल आवरण का भेदन करके गूढ़ एवं मूल सौन्दर्य का अन्वेषण तथा दर्शन करता दिखाई पड़ता है तथापि अधिकतः वे नखशिख, विभाव-अनुभाव, रस-भाव आदि की सीमा के भीतर ही चक्कर काटते नजर आते हैं। प्रकृति-सुषमा भी स्थूल और उत्तेजक सौन्दर्य तक ही रही, और यदि आई तो बन कर उद्दीपन-विभाव। पर भारतेन्दु काल से नए-नए क्षेत्र उद्घाटित हुए और धीरे-धीरे सौन्दर्य की नई-नई भावनाओं का प्रशस्त पथ निर्मित हुआ आधुनिक काल में।

———

तृतीय उन्मेष

वर्तमान कविता में सौन्दर्याभिव्यक्ति

सौंदर्य की आंतरिक दृष्टि

वर्तमान युग संघर्ष का युग है। चारों ओर अशान्ति, हलचल एवं विध्वंस वर्तमान है। मानव को न तो इतनी स्थिरता प्राप्त है कि वह क्षण भर कुछ पारमार्थिक चिन्तन कर सके न उसे इतना अवकाश है कि निर्द्वंद्व मन से अपनी परिस्थिति भूल कर रास-रंग और वैभव में जीवन की कटुता भुला सके। हमारा युग सन्देह, अभाव, असफलता एवं अभिशाप का युग है। हमारा जीवन सन्देहात्मक हो उठा है। हमारी श्रद्धा और हमारे विश्वास नष्ट हो चुके हैं। समस्याएँ निरन्तर उलझती ही जा रही हैं। हमारा अस्तित्व शंका एवं संघर्ष के मध्य निरन्तर प्रकम्पित हो रहा है। एक ओर ध्वंसोन्मुख साम्राज्यवाद अपनी अन्तिम सांस लेता हुआ भी शक्ति से सब पर अपना अधिकार जमाए रहना चाहता है और दूसरी ओर न परमात्मा में परम विश्वास है न सम्राट् के प्रति श्रद्धामय अनुराग। नैराश्य के कृष्ण आवरण ने युग पर कालिमा सी पोत दी है। उसी गहन कृष्ण आच्छादन पर साहित्यकार अपनी तूलिका से श्वेत-उज्वल रंग भरने का प्रयत्न करता है। किन्तु उसका भी मानस नैराश्य से ओतप्रोत है। आज के कलाकार के सम्मुख एक ओर पाशविक व्यवहार से कराहता हुआ देश है, दूसरी ओर शोषित वर्ग का आर्तनाद। ऐसे युग के प्रति कवियों की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति जागरूक हुई। प्रथम जागरण में उत्कट प्रक्रिया स्वाभाविक परिणाम था। वास्तविकता के कठोर प्रहार न सह सकने पर पलायन आवश्यक सा और भाग्यवाद प्रबल सा हो उठता है। अथवा अपनी परिस्थितियों से पराभूत कवि के लिए कविता का विभाव-पक्ष व्यापक हो गया। कभी-कभी वह ऊब कर, घबरा कर जल में बरबस बैठाए हुए व्यक्ति के सदृश बाहर निकल कर सन्तोष की सांस लेना चाहता है। और तभी उसमें बिखरी अक्षय विभूति के दर्शन होते हैं। वह प्रकृति में रम

जाता है, उसकी सौन्दर्योपासिका आत्मा तृप्त हो उठती है। प्राचीन कवियों ने शारीरिक सौन्दर्य का मूर्त रूप खड़ा किया, अन्तर्जगत् में छिपे परम सौन्दर्य-दर्शन की ओर उनका ध्यान न गया। किंतु आधुनिक कविता भौतिक जगत् से ऊबी सी मानस जगत् की ओर उन्मुख हुई--

मानस की फेनिल लहरों पर
किस छवि की किरण अज्ञात
रजत वर्ण में लिखती अविदित
तारक लोकों की शुचि बात।

आलम्बन विभाव की अस्पष्टता के कारण लौकिक रीति में भी आध्यात्मिकता का सुघर रंग दिखाई पड़ता है। द्वितीय उत्थान की नीरस बौद्धिकता का स्वच्छन्दतावाद में अत्यधिक स्वाभाविक पर्यवसान हुआ। द्वितीय युग के शास्त्रानुयायी संयमित सामंजस्यपूर्ण चित्रण के आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के विरोध से कल्पना और अनुभूति को उत्तेजना मिली और यही स्वच्छन्दतावाद की मूल प्रवृत्ति थी, जिसके अन्तस् में कल्पनात्मक मनोदृष्टि सुरक्षित थी। इस विविधता के बीच सामान्य विशेषता, स्वातन्त्र्य-प्रेमका रूप झलका, रुढ़ि-ग्रस्त काव्य-विषय और उपमान छोड़ दिए गए। फलतः स्वच्छन्दतावाद में दो प्रधान प्रवृत्तियाँ--जिज्ञासा और सौदन्र्यप्रेम आविर्भूत हुईं। बुद्धि और मस्तिष्क के विकास ने कवि में जिज्ञासा उत्पन्न की। उसे चारों ओर कौतूहल होने लगा और वह पूछ बैठाः—

"कनक किरण के अन्तराल में लुक छिप कर चलते हो कौन ?"

जिज्ञासा के साथ ही अव्यक्त के प्रति एक खोज की भावना जागरित हुई। दूसरी भावना थी सौन्दर्य-प्रेम की। सौन्दर्य की खोज मानवकी आदि पिपासा है। भीषण परिस्थितियों से निरन्तर लोहा लेते-लेते जब वह ऊब गया तो उसे एक ऐसी वस्तु की आवश्यकता जान पड़ी जो चिरसौन्दर्यमयी हो, सुख-दुख की सहचरी हो। प्रकृति इन सब उपादानों से पूर्ण थी। कलाकार ने वेदना को प्रकृति में उतार दिया, उसके आँसू प्रसूनों के कपोलों

को भिगोने लगे, उसके हास से कलिकाएँ विकसित होने लगीं, सौन्दर्य-लालसा बढ़ने लगी। शनैः शनैः-पार्थिव सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए अपार्थिव की योजना होने लगी। कवि-सौन्दर्य-प्रेम, सौन्दर्य का अन्वेषण बन गया। सौन्दर्य की विराट् मूर्ति विराट्तर और विराट्तम होती गई। इसी सौन्दर्य से मुग्ध हो सौन्दर्य-प्रेमी कवि उसे देखने की, आकुल प्रार्थना करता है:—

"विश्व-कामिनी की पावन छवि मुझे दिखाओ करुणावान् !"

[पल्लव]

सौन्दर्य की खोज में वह आकुल होकर इधर-उधर भटक रहा है।

कहीं कांटे हैं कुटिल कठोर, जटिल तरुजाल हैं किसी ओर

सुमन दल चुन-चुन कर निस भोर खोजता है अजान वह छोर।

[पन्त, उच्छ्वास]

रामकुमार वर्मा भी इसी खोज में संलग्न है:—

"दिव्य जीवन है छविमान, वही आत्मा की तृप्ति पुकार।"

[रुप-राशि]

जग का अणु-अणु सुन्दर है, कवि अपने को तन्मय कर उसी छवि में खो जाना चाहता है :—

"जाने दो प्रिय मुझे भूल कर अपनापन अपार जग सुंदर"

[गीतिका]

पन्त को समस्त ऐश्वर्यों के मूल में सुन्दरता ही दृष्टिगत हो रही है।

"अकेली सुंदरता कल्याणि, सकल ऐश्वर्यों का संधान।"

इसी सौन्दर्यानुसन्धान की आकुलता से प्रसूत रहस्य की सूक्ष्म भावना, जो जिज्ञासा के संकेतों द्वारा व्यक्त हो रही है, इस युग की दूसरी विशेषता है, जिसने कवि-हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा को वाणी प्रदान की:—

"अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब

सुखी सो रहे थे इतने दिन छिपे कहाँ नीरद निकुरंब।"

[अजातशत्रु, पृ० ११८]

इसी प्रकार निराला जी की "यमुना" में जिज्ञासा की तृप्ति कृष्ण की ओर किए हुए संकेतों द्वारा होती है:—

"बता कहां अब वह वंशीवट कहां गए नटनागर श्याम,
चल चरणों का व्याकुल पनघट कहां आज वह वृन्दाधाम ॥"

रहस्यमयी सूक्ष्म भावना की तृप्ति सुदर अतीत के वर्णन से ही नहीं होती, वहाँ तो आसपास चारों ओर विखरी हुई वस्तु भी प्रतिभा सम्पन्न दिखाई पड़ती है। समीर से तरंगित सरोवर, कृषक-कन्या आदि वस्तुएं भी उसे उत्प्रेरित करती रहती हैं—

"शान्त सरोवर का उर किस इच्छा से लहरा कर
हो उठता चंचल-चंचल।"

[गुंजन, पृ० ७]

नक्षत्रों की सहज धवलिमा और चमक देख कर कविवर रामकुमार की जिज्ञासा पूछ ही बैठती है:—

"इस सोते संसार बीच जग कर सज कर रजनी वाले
कहां बेचने ले जाती हो यह गजरे तारों वाले।"

[अंजलि, पृ० ७]

बच्चन का ध्यान भी दूरागत ध्वनि से आकृष्ट हो जाता है:—

"कोई पार नदी के गाता।"

इसी प्रकार की रहस्यात्मक जिज्ञासा की भावना से उत्प्रेरित आधुनिक कवि की अभिव्यक्ति रह-रह कर रहस्यात्मक भावुकता से भर उठती है, उसका संवेदनशील सरस हृदय अपनी भावमयी प्रतिभा के उन्मेष से स्फूर्ति-पूर्ण हो जाता है. उसकी सहृदय कल्पना प्रकृति के विशाल सौन्दर्य-द्योतित नैसर्गिक प्रांगण में उल्लासमयी ललित केलियों के लास्य के उत्प्रेरक मूल, पर परम व्यापक रहस्य के प्रति कौतूहल से उत्कंठित हो उठती है। और तब उसकी जिज्ञासा प्रश्नों के रूप में फूट पड़ती है।

कभी-कभी उसकी जिज्ञासा स्वयं प्रश्नों का समाधान भी करती जान पड़ती है। वह स्वयं अपनी कल्पनानुभूति से उनका उत्तर देताहै। पर

चूंकि उसकी प्रतिभा, कल्पना और भावना, सब कुछ इसी भौतिक और स्थूल जगत् की प्रभावशील सुषमाओं से परिचालित हैं, अतः उसकी रहस्यात्मक अनुभूति की उद्बोधक अज्ञात सत्ता भी कभी नर, कभी नारी अथवा कभी अन्य परिचित स्वरूपों के माध्यम से प्रकट होती है। आगे इनकी चर्चा की जायगी, यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आज की कविता में अभिव्यक्त रहस्यवाद किसी दार्शनिक वाद-विशेष के आधार पर कबीर या जायसी के रहस्यवाद सा नहीं है, वह अपने विशुद्ध रूप में आधुनिक काव्य-धारा की सौन्दर्यानुभूति से उद्वेलित और उत्प्रेरित, आकुल कवि-हृदय की कल्पनाशील भावमयी अभिव्यक्तिमात्र है। और जिस कवि का हृदय उपनिषद् और भारतीय दर्शनों के सिद्धान्तों से परिचित होगा, संस्कृत होगा, उसकी रहस्यात्मक रचनाओं में उन संस्कारों का प्रतिबिम्ब भी लक्षित होगा। प्रसाद और निराला की अभिव्यक्तियों से इस उक्ति पुष्टि भली भाँति होती है। जिसकी भावना वैज्ञानिक रहस्य-दर्शन से प्रभावित होगी, उसमें वैज्ञानिक दृष्टि की छाया झलकती मिलेगी। जिसकी अनुभूति पश्चिम की आधुनिक रहस्यात्मक धारा से भावित होगी उसकी उक्ति में वैसे ही भाव प्रकट होंगे। अस्तु-गोस्वामी जी के शब्दों में कह सकते हैं—"जाकी रही भावना जैसी, तिन प्रभु मूरत देखी तैसी"। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक हिन्दी–काव्य का रहस्यवाद एक साहित्यिक अनुभूति-व्यंजना शैली है, सौन्दर्य-प्रकाशन की एक धारा है न कि एक 'वाद'। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि इस श्रेणी के कवियों में परोक्ष सत्ता को चाहे धार्मिक महत्व भले ही न दें पर दृश्य नैसर्गिक सुषमा की प्रतिच्छाया के रूप में देखने के कारण वे उस अव्यक्त की अनुमित अनन्त सुषमा पर मुग्ध अवश्य रहते हैं। इसी से हम उन्हें आस्तिक कहते हैं।

अव्यक्त के प्रति अपनी इसी आस्था के कारण वह आज के कट्टर प्रगतिवादियों से भिन्न है। मार्क्सवाद से प्रभावित होने के कारण घोर भौतिकता का अनुयायी प्रगतिवादी, दृश्य जगत् से परे किसी सूक्ष्म, परोक्ष

रहस्यात्मक सत्ता की कल्पना को अव्यावहारिक, बुद्धि-विलासियों का पाषंड, एवं उच्च वर्ग की कपोल-कल्पनामात्र मानता है। उसकी दृष्टि में भौतिक जगत् ही सर्वस्व है एवं पीड़ितों, दलितों, तथा शोषितों के प्रति उच्चवर्ग द्वारा किए जाने वाले निर्दलन, शोषण एवं उत्पीड़न को दूर कर साम्य के आधार पर समवर्गीय समाज की स्थापना में सहायता पहुँचाने वाले गीत गाना ही कवि की चरम सहृदयता तथा सफलता है। इस प्रकार के करुण भाव की अभिव्यक्ति तथा दलितों में उत्साह भर कर अपने प्राप्य स्वत्व के लिए उन्हें क्रान्तिशील बनाना ही, सीधेसादे शब्दों और सरल भावों द्वारा-कवि की वास्तविक कला है। अतः कला का सौन्दर्य व्यावहारिक उपयोगिता और सर्वमानव-दया के प्रसार में प्रकट होता है। प्रगतिवाद के एकाधिक सिद्धान्तों से असहमत होते हुए भी उसके विश्वबन्धुत्व का अनुराग एवं व्यथितों के प्रति करुणा को सौन्दर्य की अभिव्यक्ति मानना सभी उदार हृदय स्वीकार करेंगे।

यह प्रगतिवाद वस्तुतः प्राचीन स्वच्छन्दतावाद का ही स्वरूप है। यद्यपि इस स्वरूप पर राजनीतिक मार्क्सवाद का पूर्ण प्रभाव पड़ता है तथापि प्राचीन रूढ़ियों के प्रति क्रान्ति और क्षोभ की भावना से परिप्लुत होकर आज का कवि व्यावहारिक स्वच्छन्द जगत् के सौन्दर्य-प्रसूनों का मकरन्द-पराग सर्वत्र फैलाना चाहता है स्वच्छन्दतावाद का अर्थ भी जीवन और साहित्य की कठोर रूढ़ियों से उन्मुक्त होना ही है। वर्तमान कवि अभिव्यजंना की नवीन शैली और नवीन छन्द-विधान की उद्‌भावना में संलग्न है। आधुनिक कवि भवभूति की सीता और कालिदास की शकुन्तला में तन्मय नहीं हो गया है। वह बुद्धिवादी, प्रकृति को सहचरी बना कर भी शिशुओं सा भोला और निरीह न हो पाया। उसे उषा की स्वर्णिम अरुणाई, निर्झरणी के कलकल गान से ही सन्तोष न हुआ, और उसने अपने ही जैसे जीते-जागते, दान और प्रतिदान के उपयुक्त साकार रूप की कल्पना कर ली। पल्लवों में उसने एक अस्फुटयौवना बालिका का रूप पाया, निर्झरिणी के वेग-सहित सागर की ओर गमन में, मिलनोत्कंठिता नायिका का रूप देखा, यहाँ तक कि समस्त प्रकृति को उसकी कल्पना-तूलिकाने

चेतन बना दिया। इस चेतन उद्‌बुद्ध रूप को देख कर 'वादी' भले ही चौंक उठें किन्तु वस्तुतः प्रकृति के भोले चित्रण में बाल्य-सुलभ कुतूहल, जिज्ञासा और तन्मयता के अतिरिक्त किसी रूढ़िवाद का प्रपंच नहीं दिखाई पड़ता। आधुनिक युग की विभिन्न अभिव्यंजन-प्रणालियों पर ध्यान देने से उपर्युक्त कथन की सत्यता स्पष्ट हो जायगी।

आधुनिक युग वादों का युग है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी नयी दृष्टि लेकर आता है, अपनी नवीन रचनाओं में नवीन वादों की अवतारणा कर लेता है। यहीं आकर सौन्दर्य की वह अखंड सत्ता कई रूपों में विभाजित हो जाती है। पहले कहा जा चुका है कि सौन्दर्य एक तथा शाश्वत है। उसके ऊपर अज्ञान, अस्वास्थ्य, कुसंस्कार और कुशिक्षा आदि का गहरा आवरण चढ़ा रहने के कारण उस राशिभूत ज्योति के दर्शन नहीं हो पाते। पहले हम यह भी कह चुके हैं कि अन्य युग के कवियों ने सौदर्न्य का भौतिक रूप अधिक अपनाया, किन्तु वर्तमान साहित्य उसके आभ्यन्तर सुन्दर स्वरूप का भली प्रकार निरीक्षण-परीक्षण करता रहा है। इस आन्तरिक सौंदर्न्य का बाह्य अनन्त सौन्दर्य से नाता जोड़ लेने की प्रक्रिया को ही रहस्यवाद अथवा आध्यात्मिक कह लेते हैं। इस क्रिया में कवि अथवा लेखक के रागात्मक आत्मानुभव का पक्ष अधिक विकसित एवं समुन्नत रहता है। सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति में केवल "समाधि" या "हाल" का धार्मिक भावावेश नहीं होता, उसमें तो सामान्यतया एक दूसरे समझे जाने वाले रागात्मक और बौद्धिक पक्षों में पुनः सामंजस्य स्थापित हो जाता है। मस्तिष्क या बुद्धि द्वारा विभक्त ये दोनों पक्ष फिर एक में मिल जाते हैं। उस प्रकार के कवियों में प्रातिभ ज्ञान (Intution) की प्रधानता रहती है। इस 'सुन्दर', 'अनन्त', 'अव्यक्त', 'उस पार' 'क्षितिज' आदि को व्यक्त करने के लिए कवि को प्रतीक का सहारा लेना पड़ता है। इसका कुछ विवेचन आगे चल कर होगा। यदि थोड़े में कहा जाय, जैसा पहले दिखाया भी जा चुका है, तो रहस्यात्मक कविता केवल उस चिरसुन्दर को व्यक्त करने की चेष्टामात्र है जो अणु-अणु

में व्याप्त है, जो स्वतः सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। यह भावना हिन्दी-साहित्य में एकदम नवीन नहीं है, कबीर के गीतों में, वैष्णवों के माधुर्य-भाव में भी व्यक्त हुई है। कवि को समस्त सृष्टि में, पशु-पक्षी, जड़ और चेतन, सभी पदार्थों में जीवन का स्पन्दन लक्षित होता है। तभी तो वह मधुप-बालिका से अनुरोध करता है--

"सिखा दो ना हे मधुप-कुमारि, मुझे भी अपना मीठा गान"।

कवि को जगत् की समस्त वस्तुएँ बँधी-सी, परिमित-सी और ससीम-सी दिखाई पड़ती हैं। अतः वह ऊब कर असीम की ओर उड़ जाना चाहता है:--

"चला जा रहा हूं पर तेरा अन्त नहीं मिलता प्यारे
मेरे प्रियतम तू हो आकर अपना भेद बता जा रे।"

कवि क्षुब्ध हुआ, खोजते-खोजते थक गया, लेकिन सहसा जैसे किसी अज्ञात शक्ति ने उसे बताया--'मैं सर्वत्र हूँ:'। तभी आशा पुनः मुस्करा उठी--

"पर जब तुम हो सभी कहीं तब मैं ही क्यों यों भटकूं,
चाहूं जिधर उधर ही अपनी दाईं तुम पर पटकूं।"

श्री महादेवी का प्रियतम सपनों का शृंगार है······

"वह सपना बन बन आता है, जागृति में जाता लौट,
मेरे श्रवण आज बैठे है, इन पलकों की ओट।"

[नीरजा, पृ० २३]

निराला की अन्तर्मुखी साधना कितनी मुखर हो उठी है:--

"पास हीरे हीरे की खान खोजता और कहां नादान"

तभी तो जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है। समस्त कण में व्याप्त उस परम चेतन को किसी देवल अथवा प्रमुख स्थान पर खोजना व्यर्थ ही तो है! तभी तो एक भावुकको, जिसे लोगों ने मसजिद में शराब पीने से रोका था, ललकार कहना पड़ा था:--

"जाहिद, शराब पीने दे मसजिद में बैठ कर।
या वह जगह बता कि जहां पर खुदा न हो"।

किन्तु यह अवश्य है, वह जागर्ति की अवस्था में नहीं आता। वह तो अचेतन अवस्था में आता है और होश आने पर चला जाता है—

"मादकता से आए तुम संज्ञा से चले गए थे,
हम व्याकुल पड़े बिलखते, थे उतरे हुए नशे से।"

जागर्ति पीड़ा है, विस्मृति आनन्द—"मैं मरीजे होश था मस्ती ने अच्छा कर दिया।" वर्तमान कविता में वेदना और सौन्दर्य के प्रभाव से एक मधुरता सी आ गई है, जो न तो हाल की दशा से मिलती है न कोरी रहस्यात्मकता से। इन दोनों के मधुर सम्मिश्रण से एक सहज, अस्पष्ट तथापि व्यक्त रहस्य का जन्म हुआ। वसन्त के प्रभात में जब कलियाँ अपना कोश खोल उन्मुक्त हृदय से सौरभ वितरित कर रही हैं, भौंरे गुन-गुन कर रहे हैं, उस समयः—

"कनक-छाया में जब कि सकाल खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल तड़प बन जाते हैं गुंजार
न जाने ढुलक ओस में कौन, खींच लेता मेरा दृग मौन"

वह परम सौन्दर्य स्थल-स्थल पर बिखरा पड़ा है—

"प्रिये कलि कुसुम-कुसुम में आज मधुरिमा मधु सुषमा सुविकास
तुम्हारी रोम रोम छवि व्याज छा गया मधुवन में मधुमास।"

[गुंजन, पृ० ५०]

उस दिव्य प्रेयसी की सौन्दर्य-व्यञ्जना वसन्तश्री के रूप में हुई है। उसकी सौन्दर्य-छवि समस्त जगत् में प्रतिविम्बित हो रही है:—

"मां वह दिन कब आवेगा जब मैं तेरी छवि देखूँगी,
जिसका वह प्रतिविम्ब पड़ा है जग के निर्मल दर्पण में।"

[वीणा, पृ० ४८]

प्रसाद को भी उस प्रिय का आभास मिल रहा है—

"पिंगल किरणों सी मधुलेखा,
हिम-शैल बालिका को तूने कब देखा
कलरव संगीत सुनाती किस अतीत युग की गाथा गाती आती।"
[प्रसाद, लहर]

इतना ही नहीं:—

"आगमन अनंत मिलन बन कर बिखराता फेनिल तरल खील
हे सागर संगम अरुण नील।"
[लहर, पृ० ११]

सरिता ने सागर को नहीं देखा किन्तु वह उत्कंठित, अपनी धुन में मस्त चली जा रही है। सागर ने सरिता को नहीं देखा किन्तु वह उसे अपने उर में धारण कर लेने के लिए आकुल है। चारों ओर प्रिय-मिलन का राग सुन, अदृश्य प्रिय को न पाने पर वेदना के गीत गानेवाला आज का कवि अधिक वेदनाशील हो गया है। प्रियतम की चितवन उसे पीड़ा का साम्राज्य दे गई है किन्तु उसे वेदना से प्यार है, प्रिय से प्राप्त प्रत्येक वस्तु प्रिय ही लगती है:—

"मेरी लघुता पर आती जिस दिव्य लोक की व्रीड़ा
उसके प्राणों से पूछो क्या पाल सकोगे पीड़ा ?
क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार,
रहने दो हे देव! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार।"
[महादेवी वर्मा, नीरजा]

कवि को अपना अस्तित्व ही कुछ भूला हुआ सा लगता है, उसे कुछ अभाव सा खटकता है:—

"कहीं से आई हूं कुछ भूल।"

व्यापकतामें विश्वास करने वाला कवि, जीवनमें ही प्रिय-आगमन का अभास पाने लगता है।

"मुस्काता संकेत भरा नभ अलि क्या प्रिय आने वाले हैं।"

मिलन उसे झूठा नहीं प्रतीत होता, न वह स्वप्न है न भूल, वह तो चिरसत्य है, क्योंकि उसका आभास सत्य पर पड़ रहा है :—

"कैसे कहती हो सपना है अलि उस मूक मिलन को
भरे हुए अब तक फूलों में, मेरे आँसू उनके हास।

प्रियतम से साक्षात्कार होते ही जब मोह का निर्मम दर्पण टूट जाता है, तब उस स्वप्नाभास सत्य की वास्तविकता दिखाई पड़ती है—

"अब तो क्या पूजन क्या अर्चन रे—
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे।"

यह रहस्य की संक्षिप्त विवेचना हुई। कहना नहीं होगा कि आज के बहुत से कवियों में रहस्यात्मक अनुभूति की गंभीर भावुकता नहीं, जैसे—

"इस दुनिया से मांग रहा हूँ छोटा सा उपहार,
जा शून्य क्षितिज के पार बनाऊँ मैं तारों के हार।
उन्हें छिपा काले अञ्चल में खाली हाथ पसार—
किसी हृदय का प्रेम जला दे इस प्राणों की ज्योति
और बना दे मेरी दुनियां स्वप्नों का संसार।

[सरस्वती, जून १९३६]

इस व्यर्थ आवाहन को सुन कर, परिमित भावना की सफलता से ऊब कर दूर कोने में एक रव गूँज उठा—

"क्या होगा गाकर अनन्त का नीरव औ" मधुमय संगीत,
कनक-रश्मियों के गौरव होगा क्या दुखियों का त्राण,
सूखी रोटी ही में जिनके हैं यथार्थ जीवन क प्राण।"

जिस प्रकार स्वच्छन्द चिन्तनके कारण आधुनिक हिन्दी में रहस्यात्मक अभिव्यक्ति के द्वारा सौन्दर्य-प्रकाशन की परम्परा प्रचलित हुई, छायावाद और रहस्यवाद की प्रतिक्रिया के रूप में जिस प्रकार आज प्रगतिवाद की धारा बहने लगी उसी प्रकार आधुनिक काव्युग में एक अवसर ऐसा आ गया था जब देशभक्ति और क्रान्ति की लहर ने अधिकांश लोगों को अभिभूत कर लिया।

समय के साथ भातेन्दुयुग की राजनीतिक चेतना और जागर्ति बढ़ती गई और इसीके साथ बढ़ती गई उस कटुता की मात्रा जो राजनितिक स्वत्वों के अभाव में जन्म लेती है। दबी हुई अग्नि धीरे-धीरे सुलग कर बढ़ चुकी थी, विस्फोट की राह देख रही थी। सत्याग्रह आन्दोलन ने जनता को देशभक्ति की अभिव्यक्ति और साधना का अवसर दिया। वही कल कल्पना, जो प्रकृति-सुन्दरी का नित नवीन साज सजाया करती थी, विहंगों के कलरव से अपना मन बहलाती थी, हथकड़ियों को तोड़ने और तड़काने में लग गई। सुमधुर गीतों का स्थान देश-प्रेम के प्रभावोत्पादक 'नारों' ने ले लिया। जनता की दृष्टि स्वभावतया अपने नेताओं पर गई और वे ही उनके सौन्दर्य के केन्द्र बन गए। व्यथित मजदूर, कृषक उनकी समवेदना और करुणा के आलम्बन बन गए:—

मानचित्र भारत का अंकित कृषकों की कृषकाया में,
सब रहस्य है छिपा हमारी इस निद्रा की माया में।
जाकर देखो कैसे कतता सूत प्रेम का विमल विमल,
पूने में यरवदा जेल में, तरुरसाल की छाया में।

[उमंग, पृ० ९८]

इनकी ओजस्विनी भावुकता, कलामय लेखनी, नेताओं का गुण गान कर मूक न हो बैठी, उसमें आत्म-विश्वास और दृढ़-प्रतिज्ञा की भावना भी जाग उठी:—

ढीठ सिपाही की हथकड़ियाँ दमन नीति के वे कानून,
गिरा नहीं सकते हैं हमको यदपि बहाते प्रतिपल खून।

[मुकुल, पृ० ९४]

नवयुवकों का युवा उष्णरक्त चीत्कार कर उठा। उष्णता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। नेत्रों के सन्मुख भयंकर-भयंकर घटनाएँ, निरीह मानव की बेकसी से कराहती मौतें, सब जैसे करुणा में सुन्दर हो उठीं। उन्हें देखकर करुणा हो आती थी। पर उस महत्ता में छिपी हुई सुन्दरता की अवहेलना न की जा सकी:—

"सुन सुन ये दीवाने किसके आवाहन का शोर चले,
मचल मचल गलहार पहनकर किस महफिल की ओर चले।
चढ़ टिकठी पर चूम रस्सियां ये मतवाले उधर चले,
जिधर हमारे लाल लाड़ले विहँस-विहँस कर बिखर चले।
हंसते-हंसते आखिर यह भी अपनी आखें मूंद चले,
मां की थाली भरने को यह बन रुधिरों की बूंद चले॥"

[उमंग, पृ० १०४]

यह हिंसा की लड़ाई न थी, नंगी छाती के सन्मुख तोपों की चढ़ाई थी, तभी राष्ट्रकवि मैथिली शरण भी कराह उठेः--

"लिखा रहे जगतीतल में वह सत्याग्रह का साका,
हाथों में हथियार न थे बस थी हां वही पताका।
रोक न सका इसे बढ़ने से लोहे का भी नाका,
चौंक चमत्कृत अखिल विश्व ने नया तर्क सा ताका।
है बलिदान वही तो जिससे हत्यारा भी हहरे,
निज विजय विजय-पताका फहरे॥

ऐसे वीरों का स्वागत करने लिए प्रकृति का पुनीत कण-कण मचल उठा। कवियों ने कलिकाओं को समय से पहले खिल जाने का आदेश दिया, जिससे वे बलिदान हो जाने वाले वीरों की चरण-रज तो ले लें, तभी तो विकसित सुमन आत्मबलि की भावना व्यंजित कर रहा हैः—

"चाह नहीं मैं सुर बालाओं के गहनों में गूंथा जाऊं,
चाह नहीं प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊं।
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि! डाला जाऊं,
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्यपर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बनमाली उस पथ में देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।

[भारतीय आत्मा, सिपाही]

मानव को जैसे जीवन का कोई मोह ही न रहा, सब कदाचित् इसी ध्येय को लेकर चल रहे थे कि क्षण भर रहकर 'वहां चलें' की नौबत आ जायगी। जब विधि ने कलिका के नन्हें पटलों में मादकता का वरदान भर दिया था, जब सरिताने कलकल गान पाया था, भ्रमरों ने मधुर-मधुर रस का अह्लदकारी अनुरंजन पाया था तबः—

'तब हम मस्तों को हृदय मिला,
मर मिटने का अरमान मिला।'

[मनाव, पृ० १००,]

किन्तु हमारा मर मिटना एक दिन रंग लाएगा ही। हमारे शोणित की जलती हुई बूंदे एक दिन चारों ओर आग लगा ही देंगी। और तबः—

"ओ मदहोश बुरा फल हो शूरों के शोणित पीने का,
देना होगा तुझे एक दिन गिन-गिन मोल पसीने का।"

रक्त का क्या पसीने की बूदों का मूल्य आंका जायगा। इन्हीं शहीदों की हड्डियों की नींव पर सुखशान्तिपूर्ण नव जगत् का स्वर्ग उठ जायगाः—

"ऐ शहीदे मुल्क तेरी हड्डियों की नींव पर
आशिकों का पाक मन्दिर जल्द उठ जाने को है।"

इस देशप्रेम के युग में अस्थिरता व्याप्त हो रही थी। चिर आकर्षण-मयी नारी भी काव्य का उपदान न बन सकी। वैराग्य के इस गहन, निबिड़ तिमिर में उसकी रूप-रेखा भी धुधँली होगईः—

"सुन्दरता पर गर्व न करना, ओ स्वरूप की रानी।
समय-रेत पर उतर गया कितने मोती का पानी॥
प्रिय-चुम्बित यह अधर,
उन्नत उरोज कुसुमार सखी।
आज न तो कल श्वानशृंगालों,
के होंगे आहार सखी॥"

[रेणुका, पृ० ५८]

यहां तो सदा 'सर्वनाश की आग' जलती रही है, जिस पर सुख, ऐश्वर्य और यौवन की आहुति देनी पड़ी है। सत्याग्रह-संग्राम में स्वयं संलग्न इन कवियों के गीतों में भावावेश, प्रभाव, प्रवाह और सचाई पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है।

देशभक्ति की उमड़ती हुई उमंग को कहीं बह चलने का अवसर न मिला। और वह उमड़-घुमड़ कर क्रान्ति के रूप में फूट पड़ी। भरा हुआ धुंआ उबल पड़ा, बाहर निकल आया, लोगों की आँखें उस धुंए के तीखे-कड़वे प्रभाव से लाल हो उठीं, कुछ तरल होकर बह चलीं। यह क्रान्ति भले ही अपनी शैशवावस्था में थी फिर भी यह वायु के आकस्मिक आघात सी उठी, सामान्य हिलोर सी नहीं, यह जीवन-सागर के उस क्षुब्ध, उद्वेलित और अव्यवस्था की लहर है, जिसके दर्शन भयंकर झंझावात के आने पर ही होते हैं। युग में आर्थिक शोषण और पाशाविक बल का बोलबाला है, कुरीतियाँ, अन्धविश्वास जनता का गला घोंटे डाल रही हैं, मरते समय रोदनस्वर भी उनके कंठ से फूट न पड़े, इसके लिए नियमों के लौह-कर उनके होठों को बन्द किए हुए हैं। यही प्रगति की प्रेरणा है। साम्प्रदायिक प्रगतिवाद न होकर यही सच्चा प्रगतिवाद है। काव्य के उपादान जीवन के स्तर-स्तर में व्याप्त हैं। यदि एक ओर सुसज्जित, सुकुमारी सुघर युवती आकर्षक है तो दूसरी ओर घृणित वस्त्रों मे लिपटी अस्त-व्यस्त कंकालमात्र भिखारिणी भी सुन्दर है। अब हमारे नेत्र और श्रवण दोनों ही चारों ओर के लिए खुल गए हैं। आज के कवि को प्रसादों में रुनझुन करते नूपुरों की मुखरता ही आकर्षित नहीं करती, जीर्णप्राय झोपड़ी में अन्तिम बार कराहते हुए रुग्ण की करुण ध्वनि भी अन्तस् को हिला देती है। कल साहित्यकार में समाज समाया था, आज समाज में साहित्यकार समा गया है। आज तो:—

"देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय शोणित की धारें।
और उठी जाती उन पर ही वैभव की ऊंची दीवारें।"

[रेणुका, पृ० २१]

एक ओर गरीब की झोपड़ी तृणवत् कांपती रो रही है, दूसरी ओर विलासिता की अट्टालिका खिलखिलाकर हस रही है—

'कंकालों का रक्त पान कर आज अमित आंखें है लाल
दलितों की आशा अभिलाषा कुचल कुचल कर हुई निहाल।
दीन झोपड़ी को विलोक कर विलासिता मुस्काती है।
दानवता का ताण्डव लख कर मानवता अकुलाती है।''

नरेन्द्र जी को आश्चर्य है कि यह जर्जर निष्प्राण कंकाल साम्राज्य का दुर्वह भार किस प्रकार ढो रहें है:—

मुझे आश्चर्य महान झुके जर्जर निष्प्राण।
न जाने कैसे हैं ये स्तम्भ लदा है जिन पर जग का भार।

[प्रभात फेरी, पृ० १००]

मानव ने अपने सुख-साधनों के लिए वस्तुएं निर्मित कीं किन्तु वे साधक न बन कर बाधक हो गईं। कृषकों ने तिल-तिल गल कर, वैभव के पुत्रों के लिए तिल-तिल अन्न जुटाया, किन्तु पुरस्कार में उन्हें क्या मिला? अपने नन्हें निरीह शिशुओं का भूख से कराहता क्रन्दन:—

''हमने कृषि काटी थी उस दिन, निज तीव्र क्षुधा के हरने को।
पर हाय हमारी भूख कि हम असि लाए खुद कट मरने को।

और भी:—

''मथ डाले हैं सागर अम्बर हमने प्रसार दिखलाने को।
हमने विद्युत् को निगल लिया मानव की गति बन जाने को।
हमने तेलों का दाह किया निशि में प्रकाश बरसाने को।
पर आज हमारे खाद्य घिरे हैं हमको ही खा जाने को।

मानव के प्रति मानव के दुर्व्यवहारों ने उसे अमानव बना दिया है। उसके जीवन में न उषा की अरुणाली आनन्द बरसाती है, न सलोनी सन्ध्या अनुराग। वह तो केवल इतना जानता है—

"अभिलाषाओं की सुबह यहाँ
असफलताओं की शाम ......।"

[मानव, पृ० १०५]

इस पर भी 'कुछ कह नहीं सकते, असफलताओं को गले लगा कर'—

'अभिशाप उठा कर होठों पर,
वरदान दृगों से छोड़ चले।'

किन्तु उन दृगों के वरदान को—

'भगवान् तुम्हारा भला करे,
कुल बढ़े और सम्मान बढ़े।'

सुनने वाले क्या समझें? वे तो केवल यह जानते है—

'दूसरा कह उठा हमसे ही,
जीवित है सब साहित्य कला।'

रक्तमांस का मानव, मानव का क्रन्दन न सुन सके न सही, किन्तु वे शुष्क दीवारें जो युग-युग से उस मूक इतिहास को वहन कर रही हैं, चुप न रह सकीं—

"कह उठीं अरे तुम हत्यारे,
तुम सदा घोटते रहे गला।
हम खड़ी हुईं उन नींवों पर,
जो चुनी गईं कंकालों से।
इतिहास हमारा तुम पूछो,
उन भूखों मरने वालों से।"

[मानव, पृ० ५५]

इसीलिए कभी तो कवि सुधार करना चाहता है और कभी:—

"जल उठ जल उठ अरी भभक उठ महानाश सी मेरी आग।"

कह कर, अग्नि का पुंज बन कर, अत्याचारों और दुर्व्यहारों को भस्म कर डालना चाहता हैं। निराश होकर कहता है:—

'मुस्काओ हे भीम कृष्णवन'—

कभी सृष्टि को उलट-पुलट कर एक नई दुनियां बसा लेना चाहता है:–

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जावे
एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए
नभ में त्राहि-त्राहि रव छा जाए ...."

प्रकृति सम्बन्धी मार्मिक चित्र भी अंकित किए गए हैं, किन्तु वहाँ भी आवेग इतना बढ़ गया है कि कवि कुछ कहते-कहते कुछ कहने लगा है:—

"इस विनाशके महागर्त में डूब जाय संसार।
और लोप हो जावे उसमें कलुषित हाहाकार।
जल ही जल हो उथल-पुथल हो बनो काल साकार।
बरसो, बरसो अरे सघन घन महाप्रलय की धार।"

जैसे आदि कवि की वाणी क्रौंच के करुण अन्त पर क्रन्दन कर उठी थी उसी प्रकार:—

"लाखों क्रौंच कराह रहे हैं, जाग आदि कवि की कल्याणी।
फूट, फूट तू कवि-कंठों से, बन व्यापक निज युग की वाणी।

[रेणुका, पृ० २२]

कवि क्रान्ति-बाला का आवाहन कर रहा है—

"उठ वीरों की भावरागिनी दलितों के दिल की चिनगारी।
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला, जाग जाग री क्रान्ति कुमारी।"

[रेणुका. पृ० २२]

क्रान्तिकारी कवियों की नयी व्यवस्था, साहित्यके सत्य, शिव और सुन्दर को सामान्य जीवनके बीच देखना चाहती। कवि कला के इन कल्पित मानदंडों को जीवन से अनुप्राणित देखना चाहता है:—

"सुन्दर शिव सत्य कला के कल्पित माप मान।
बन गए स्थूल जग जीवन से हो एक प्राण।
मानव स्वभाव बन मानव आदर्श सुकर।
करता अपूर्ण को पूर्ण असुन्दर को सुन्दर।

[युगवाणी, पृ० १५]

इस नयी व्यवस्था में सदाचार और धर्म की महत्ता जन-हित पर निर्भर होगी :—

> "धर्म नीति और सदाचार का मूल्यांकन है जनहित।
> सत्य नहीं वह जनता से जो नहीं प्राण संबन्धित।
> क्षुद्र व्यक्ति को विकसित हो अब बनना है जनमानव।
> सामूहिक मानव को निर्मित करनी है संस्कृति नव।"
>
> [युगवाणी, पृ० ३४]

ये कवि राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में ही स्वतंत्रता नहीं चाहते, सामाजिक क्षेत्र में भी दलित को दलित कह कर उसे और गिराना नहीं चाहते वरन् उसे उसके कर्तव्यों का, अधिकारों का, ज्ञान करा के अपने समकक्ष बैठाना चाहते हैं। उन्हे सच्ची सहानुभूति है और है सहृदय संवेदना। नरेन्द्र जी का कोमल मर्म वेश्याओं की दुर्गति पर रो उठा है। उनका ममतामय हृदय समाज से निष्कासित नारियों को सरल स्नेह प्रदान करने के लिए मचल उठा है। उन्होंने नारी का चिर स्नेहमय रूप देखा है। 'आँचल में है दूध और आखों में पानी' लिए हुए करुणा और दया की प्रतिमा नारी उनके आदर की पात्री है। इन कवियों की भावना नारी के प्रति बहुत कुछ सुकोमल हो उठी है :—

> "गृह सुख से निर्वासित कर दी, हाय मानवी बनी सर्पिणी
> यह निष्ठुर अन्याय आओ बहन ·············
> अरी सर्पिणी आ तेरे मणिमय मस्तक पर मैं
> अंकित कर दूं निर्धन चुम्बन···आ सर्पिणी आ
> ले भाई का निर्बल प्रेमालिंगन।"
>
> [प्रभातफेरी, पृ० ९९]

सर्पिणी है वह किन्तु एक उसके विष से दूर भाग रहा है, दूसरा उसकी मणि पर रीझ गया है। दूसरी ओर कवि पापी के पाप से प्यार कर रहा है—

"यहाँ कौन है जग में पापी? वह मेरा भूला भाई है।
बालक है, थक ही जाते हैं, पल भर कहीं ठहर जाते हैं,
क्या डर है यदि कठिन मार्ग में, संग न ये शिशु चल पाते हैं।"

[प्रभातफेरी. पृ० ११६]

पन्त भी नारी के कष्टों का कारण नर को ही बता रहे हैं:—

पुरुषों की ही आखों में नित देख देख अपना तन।
पुरुषों के ही भावों से अपने प्रति भर अपना मन।
लो अपनी ही चितवन से वह हो उठती है लज्जित।
अपने भीतर ही छिप छिप जग से हो गई तिरोहित।
मानव की चिर सहधर्मिणि, युग युग से मुख अवगुंठित,
स्थापित वह घर दीप-शिखा सी कंपित॥"

[युगवाणी, पृ० ६०]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रान्तिप्रेमी कवि जीवन में स्वतन्त्रता के सन्देश सुनाता है। क्रान्ति के साथ इन्हें नाश से नेह है। क्यों कि तभी एक सुव्यवस्थित सृष्टि रची जा सकेगी। किन्तु इस प्रगतिवादी कविता में विशुद्ध प्रगतिवाद की सच्ची आत्मा का साक्षात्कार करने वाले, उस लोकानुरंजिनी तथा लोकहितकारिणी क्रान्ति की, न कि रूस के इशारे पर नाचने वाली रुढ़िग्रस्त प्रगतिशीलता की—प्रेरणा से काव्य–रचना में में प्रवृत्त होने वाले व्यवस्थित बुद्धि के कवि इने–गिने ही हैं, नाश, आग और भूधर उड़ा डालने वाले अधिक। फिर भी इनमें एक अखंड सत्य समाया हुआ हैं। इन्होंने सौन्दर्य को व्यापकत्व प्रदान किया है।

क्रान्तिवादी कवि यथार्थ के अत्यधिक प्रेमी होते हैं। इसलिए चित्र यथार्थ जीवन की विषमताओं से भरे मिलते हैं। इन कवियों ने सम्पूर्ण जीवन को उनके सौन्दर्य और कुरूपता के साथ अपनाया है। इनमें जीवन और कला का निकट-तम सम्बन्ध प्राप्त होता है। सौन्दर्य को जीवन के अधिक समीप लाने का, व्याप-पक बनाने का श्रेय अधिकतर इन्हीं कवियों को प्राप्त है। क्रान्तिवादी कविता संकुचित सौन्दर्य के विरोध में खड़ी हुई। इसने प्रमाणित कर दिया कि असुन्दर

कुछ भी नहीं है। केवल दर्शक की दृष्टि ही असुन्दर है। यद्यपि ओज में सौन्दर्य की कोमलता कुछ हलकी ही पड़ गई, तथापि सौन्दर्य जीवन के और भी निकट आ गया है। इसमें सन्देह नहीं कि कला की दृष्टि से इन रचनाओं का अधिक मूल्य नहीं, इन्होंने साहित्य को बहुत कुछ नहीं दिया। जीवन में विविधता है, इसमें भी रोटी, दाल, सुख, दुःख, सौन्दर्य और कुरूपता, सभी कुछ है। इसे केवल रोटी का गान कहना, विविधता की परिधि खींचना है। गरीबी और रोटी के साथ-साथ यदि क्रान्तिकारी कवि जीवन के सौन्दर्य की ओर भी दृष्टि-निक्षेप करे तो सत्य की हत्या न हो पाएगी और क्रान्तिकारिणी कविता वास्तव में वह जान फूँक देगी जो अनेकानेक प्रकारों के होने पर भी शरीर छोड़कर कहीं न जायगी।

अभिव्यक्ति की बाह्य-प्रणाली

पिछले पृष्ठों में अभिव्यक्ति के आन्तरिक विधानों पर कुछ विचार किया गया है, अब यह भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि वर्तमान युग में अभिव्यक्ति की बाह्य प्रणाली क्या है, एवं वह प्राचीन रूढ़िगत परम्परा से किस प्रकार और कितनी मात्रा में भिन्न है।

वर्तमान युग का कवि बुद्धिवादी कवि है। वह इतना भोला नहीं कि उसे जो कुछ सुझा दिया जाय वही मार्ग धरे चलता चला जाय। उसमें अपनी मनन-शीलता है, अपनी अनोखी चिन्तन-शक्ति है। अतः वह प्रत्येक क्षेत्र में स्वतन्त्रता चाहता है। काव्य-क्षेत्र में भी प्रतिबन्ध उसे रुचिकर नहीं। आधुनिक कवि ध्वनि-सौन्दर्य से भी पूर्णतया परिचित है, और इसीलिए आधुनिक कविता में शब्द और अर्थ का उपमान और प्रतीक के समान मधुर लय से भी योग उपलब्ध है। आधुनिक कविता में प्रतीकों की प्रधानता एवं महत्ता का प्रमुख कारण यही है कि आज का कवि साधारण वक्तव्य से से प्रतीकात्मक वक्तव्य को अधिक प्रभावोत्पादक समझने लगा है। प्रतीकों का उद्देश्य सत्य को सौन्दर्य से समन्वित करना है। अव्यक्त को व्यक्त के सहारे, सूक्ष्म और अमूर्त को असूक्ष्म और मूर्त की सहायता से, अपरिचित

को परिचित के द्वारा अभिव्यक्त करना एवं लोकानुभूति की परिधि के भीतर ले आना ही प्रतीकवाद का लक्ष्य है। यह अवश्य है कि इस प्रकार के प्रतीकों का चयन बुद्धि और कल्पना के सहयोग से ही अभीष्ट लक्ष्य का साधक हो पाता है। साम्य-वैषम्य मूलक समर्थ प्रतीकों के संचय के हेतु वह विशाल प्रकृति की सहायता ढूँढता है। अतः आज का कवि परम्परा से प्राप्त चन्द्र, कमल, भ्रमर आदि प्रतीकों से पूर्णतया तुष्ट नहीं होता, वह नव-नव प्रतीकों का सर्जन करता रहता है:—

"झंझा झकोर गर्जन था, बिजली थी नीरद-माला,
पाकर इस शून्य हृदय को सब ने आ डेरा डाला।"

[आंसू, पृ० ११]

भावों का संघर्ष झंझा है, वेदना की अनुभूति बिजली है और अश्रुओं की धारा है नीरदमाला। पन्त भी प्रतीकों के व्यवहार में पटु हैं:—

"कभी तो अब तक पावन प्रेम नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज, हाय क्या गंगाजल की धार।"

[पल्लव, पृ० २४]

निराला की निम्नलिखित पंक्तियों में "प्रातः," "चन्द्रज्योत्स्ना" और "रेणु" स्फूर्ति, शान्ति और शीतलता के प्रतीक हैं:—

"वहां नयनों में केवल प्रात, चन्द्रज्योत्स्ना ही केवल गात
रेणु छाए ही रहते पात मंद ही बहती सदा बयार।
हमें जाना इस जग के पार ॥

[परिमल-गीत]

जैसा कि ऊपर बताया गया है, इस प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक और प्रतीक-बोध्य वस्तुओं की आकृति, गुण और प्रभाव आदि के साम्यसाम्य का आधार लेकर भावाभिव्यंजन होता है। पर आकृति, गुण और प्रभाव की समता-विषमता और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति आज की कविता के लिए ही उपयोगी नहीं हैं वरन् आलंकारिक भावयोजना, लाक्षणिक आरोप

"कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता सिसकता गान है।"

इनके बल पर कवि एक चित्र सा खींच देता है। वस्तु साकार होकर सम्मुख आ जाती है। इसी प्रकार साम्य-योजना के आधार पर प्रसाद की उषा नागरी भी तारों का घट लिए पनघट की ओर बढ़ रही है:—

"बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा घट उषा नागरी।
खग कुल, कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा।
लो यह लतिका भी भर लाई,
नवल मुकुल रस गागरी॥"

आधुनिक युग में मानवीकरण का अत्यंत सफल, प्रभावोत्पादक और रमणीय प्रयोग हुआ है—

"निकल मत बाहर दुर्बल आह,
लगेगा तुझे हंसी का शीत।
शरद नीरद माला के बीच,
तड़प ले चपला सी भयभीत।"

[चंद्रगुप्त, पृ० ६७]

इसी भाँति महादेवी वसन्त-रजनी का एक बाला के रूप में अतीव सरस आवाहन कर रही हैं—

"धीरे धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी।
तारकमय नव वेणी-बन्धन, शीश-फूलका शशि नूतन,
रश्मि वलयसित नव अवगुंठन
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी।"

[नीरजा, पृ० ३]

उपादान लक्षणा और साम्य-योजना के साथ-साथ भाषा का प्रयोग वर्तमान काव्य की प्रधान विशेषता है। साम्य-मूलक गौणी लक्षणा तथा

प्रयोजनावती के आधार पर उक्ति में वैचित्र्य-सम्पादन के द्वारा इन कवियों ने नवीन अभिव्यंजना-प्रणाली का विकास किया है। यद्यपि पुराने समय में भी इनका प्रयोग हुआ है किन्तु कम।

"अरसानि गही उहि बान कछू सरसानि सो आनि निरहोत है"

'कूक भरी मूकता', 'उजरिन बसी है हमारी अखियांन देखो' इत्यादि प्रयोग मिलते हैं। प्रयोगों के लिए कवियों ने कार्य-कारणभाव, आधाराधेयभाव, व्यंग्य-व्यंजकभाव आदि से प्रसूत रुचिर लक्षणा का प्रयोग किया है।

कार्य-कारण-लक्षणाओं के परिणाम लक्षणा के सुन्दर उदाहरण हैः—

अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा का जगना।
सुख का सपना हो जाना, भींगी पलकों का लगना।"

[आँसू, पृ० २१]

मेरे जीवन की उलझन बिखरीं थी उनकी अलकें,
पी ली मधु-मदिरा किसने थी बंद हमारी पलकें।
बहती जाती साथ तुम्हारे स्मृतियां कितनी,
दग्ध चिता के कितने हाहाकार।
नश्वरता की थी सजीव जो कृतियां कितनी,
अबलाओं की कितनी करुण पुकार॥

[परिमल, तरंगों के प्रति]

उपादान लक्षणाः—

'कनक छाया में जब कि सकाल खोलती कलिका उर के द्वार।
सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल तड़प बन जाते हैं गुञ्जार।'

[पल्लव, पृ० ११]

इन पंक्तियों में आधार–आधेय भाव लक्षणा का व्यवहार हुआ हैः—

'मर्म पीडा के हास।'

[पलव, पृ० १२]

काली चादर के स्तर का,
खुलना न देखने पाते।"

[आँसू]

प्राचीन कविता में जिस प्रकार रूपक की शृंखला दूर तक चलती थी उस प्रकार के रूपक तो नहीं किंतु दूर तक चलने वाले व्यंग्य रूपक बराबर दिखाई पड़ते हैं—

सजा सुमनों के सौरभ हार,
गूंथते थे उपहार।
अभी तो है ये नवल प्रवाल,
नहीं छूटी तरु-डाल॥"

नवीन अलंकार-विधान के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की है। यों तो कवि के लिए कोई बन्धन नहीं है, चाहे वह अमूर्त को मूर्त करे चाहे मूर्त को अमूर्त। प्राचीन कवि अमूर्त पदार्थों के मूर्त उपमान रखते थे:—

'मम हृदय भवन प्रभु तोरा,
तहँ बसे आइ बहु चोरा।'

किन्तु आधुनिक कवि की रचना में मूर्त अमूर्त उपमान भरे रहते हैं:-

"गिरवर के उर से उठ कर
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर
है झाँक रहे नीरव नभ पर—"

"कामना-कला सी विकसी कमनीय मूर्ति थी तेरी"।

वर्तमान कवि भाव या वस्तु की व्यंजना सीधी न करके उनके चित्र को उपस्थित करता है:—

'रो-रो कर सिसक-सिसक कर
कहता मैं करुण कहनी।
तुम सुमन नोचते सुनते,
करते जाते अनजानी।'

[आँसू]

आधुनिक कविता में छंद-योजना

शब्दों और संगीत के सरस सम्मिश्रण से ही जनहितकारिणी आह्लाद-मयी कविता का जन्म हुआ। कविता का मर्म चाहे हम समझें या न समझें किन्तु एक बार उसकी ध्वनि से प्रभावित अवश्य हो उठते हैं। ओजस्वी शब्दों और ध्वनियों का प्रयोग सुनकर एक बार अवश्य ही भुजाएँ फड़क उठेंगी। मरसिया का चाहे एक अक्षर भी हम न समझें किन्तु उसकी करुण स्वरलहरीसे हृदय भर अवश्य आएगा। इतना ही नहीं, आवेग में स्वतः हमारे मुख से लयबद्ध शब्द ही निकलते है। आधुनिक छोटे-मोटे नाटकों में, जो 'नूरानी मोती', 'शाही फकीर', 'शीरीं फरहाद' आदि नामों से प्रचलित हैं तथा निम्न श्रेणी की जनता का मनोरंजन करते हैं, उनमें भी प्रभावोत्पादकता लाने के लिए पद्यों का ही प्रयोग होता है। पर काल-प्रवाह के साथ-साथ जैसे—संगीत की धारा में वैदिक ऋचाओं साम—उद्गीथ से लेकर भरत मुनि के समय तक ही बहुत परिवर्तन परिलक्षित होता हैं, तथा धीरे-धीरे मुसल-मानी शासन काल में संगीत का रूप ध्रुवपद आदिसे विकसित होकर ख्याल आदि तक पहुँचा और आज सवाक् चल-चित्रों का नितनवीन रूप दृष्टिगत हो रहा है—उसी प्रकार कविता के शब्दों, छन्दों में भी अनेक विकास और परिवर्तन होते गए। वैदिक छन्द, संस्कृत और प्राकृतों के छन्द, वीरगाथा-काल और मध्यकाल के काव्य-छन्द निरन्तर विकसित और परिवर्तित होते गए। आगे चल कर स्वच्छन्दतावाद के द्वितीय उत्थान-काल में जब सचेतन कला की विजय हुई तब संगीत और चित्र-व्यंजना के साथ भावों के बाह्य आवरण, छन्दों में भी परिवर्तन हुए। हमें नए-नए छन्दों के दर्शन होने लगे:—

"हाय मेरा जीवन
प्रेम और आँसू के कन।
आह मेरा अक्षय धन,
अपरिमित सुन्दरता और मन।

एक वीणा की मृदु झंकार,
कहां है सुन्दरता का पार।"

इस नए आधुनिक छन्दों में भी अनेक-रूपता है। स्वतन्त्रता के युग में चारों ओर स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति का परिलक्षित होना स्वाभाविक ही है। आधुनिक विश्वास है कि अत्यन्त निम्न और हेय वस्तु भी कलाकार की तूलिका से अंकित होकर निखर आती है। कवि के स्नेह-स्पर्श से उसमें सौन्दर्य साकार हो उठता है। अतः इन नवीन भावनाओं को जन्म देने वाले कवि यदि अपनी अभिव्यंजन-शैली से बाह्य परिधान में भी नवीनता ले आते हैं तो इसके लिए उन्हें दोषी ठहराना अनुचित ही है। इन स्वच्छन्दता-प्रेमियों में कोई नियम नहीं, फिर भी इसके पीछे एक गूढ़ सिद्धान्त छिपा हुआ है। सिद्धहस्त कलाकारों की लेखनी से अंकित मुक्तक छन्दों में भी एक प्रकार की गति, एक प्रकार का स्वर, स्वरों का आरोहावरोह रहता ही है। यदि ठिकाने से पढ़ा जाय तो एक प्रकार के नए संगीत का सौन्दर्य वहाँ भी मिलता है। और तभी तो नए मुक्तक छन्द गद्य से दिखाई पड़ने पर भी पूर्णतः गद्य नहीं जान पड़ते। उनके पाठ में भी कुशल काव्य-पाठक को संगीत का सा आनन्द आता है। नया और अपरिचित होने से कुछ अजीव सा अवश्य जान पडता है, फिर भी वह उपहास्य नहीं, सुंदर है। प्राचीन आचार्यों ने विशेष चिन्तनों के उपरान्त नियम बनाए थे। कुछ विशेष रसों की व्यंजना के लिए विशेष छन्द बहुत उपयुक्त होते हैं। करुणारस के लिए शिखरिणी, हिन्दी के छप्पय वीररस के लिए, सवैया शृंगाररस के लिए। इस प्रकार की कई रीतियाँ प्रचलित थीं। किन्तु अब कभी-कभी कवि के भावों में अद्भुत, करुण, और शृंगार—तीनों का सम्मिश्रण होता है। उस समय तीन भिन्न छन्दों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। इसी कठिनता को दूर करने के लिए कवियों ने स्वच्छन्द छन्दों का आविष्कार किया। पन्त का स्वच्छन्द-छन्द ही वास्तव में आधुनिक कविता के मिश्र-भावों को उपयुक्त और कलापूर्ण लय में व्यजित करने का एकमात्र साधन था:—

'आह बचपन का कोमल गात,
जरा का पीला पात।
चार दिन सुखद चांदनी रात,
और फिर अन्धकार अज्ञात—
यह जग को अविदित उल्लास।'

'जग का पीला पात" में चार मात्राएं कम है किन्तु प्रभावशीलता अधिक होगई है। इसी प्रकार:—

'रंगीले गीले फूलों से—
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य - सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग सी नित
—इसी में था असीम अवसित
मधुरिमा के मधुमास
मेरा मधुकर का सा जीवन
कठिन कर्म है कोमल है मन।'

यहां मधुरिमा के मधुमास से छन्द बदलने पर जिह्वा को थोड़ा सा विश्राम मिल जाता है और फिर स्वाभाविक गति से प्रवाह चलने लगता है—"मेरा ·····।"

पन्त ने अपनी सूक्ष्म कलात्मकता और भावों की उपयुक्तता के बल पर मात्राओं में सुन्दर परिवर्तन किए हैं। किन्तु साधारण कवियों ने 'निरकुंशाः कवयः' का अधिकार लेकर कहीं-कहीं छन्दों को हास्यास्पद बना दिया है। इस कला में कला की उस भावना की आवश्यकता है जो पाठक की अनुभूति जगा सके न कि ठोकर सी लगती प्रतीत हो।

निराला जी को 'भाव-लय' बड़े प्यारे हैं। इसलिए उन्हें मुक्तछन्द की रचना करनी पड़ी। ये छन्द सफल भले ही हों किन्तु अधिक सुन्दर नहीं कहे जा सकते। सरिता की शोभा कूलों से टकरा-टकरा कर उन्हीं के मध्य सुगति से इठलाती हुई बहने में ही है। कूलों को चूर कर बेग से बहने में

नहीं। ऐसी अवस्था में वह अपने साथ-साथ आस-पास के गावों को भी बहा ले जायगी। वह समय-विशेष पर भले ही अच्छी लगे, किन्तु सदा सुन्दर नहीं लग सकती। प्रसाद जी की "प्रलय की छाया", निराला की 'जूही की कली" आदि इस दिशा में सर्वोत्कृष्ट रचनाएं हैं। भाव के अनुकूल इनकी लय में प्रवाह है किंतु वह विधि कतिपय विशेष मनः स्थितियों और विषयों के लिए ही उपयुक्त है, और ऐसी रचनाओं में सच्ची प्रेरणा, लय और संयम की बहुत आवश्यकता है।

आधुनिक कवियों ने लय की ओर विशेष ध्यान दिया है। जिस प्रकार संगीत में ताल, लयका सम पर आना अत्यधिक आवश्यक है उसी प्रकार भाषा में गीतात्मक स्वर-संचार का रहना आवश्यक है। नाद-सौन्दर्य कविता में प्रमुख कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। ध्वन्यर्थ-व्यंजक शब्दों की भी आधुनिक युग में खोज हुई है। स्पन्दन, स्तिमित, चीत्कार, थर्राना, उत्ताल, तरग अट्टहास, उल्लास, लोल, झूम-झूम, रोर, निर्झर, बिखरना, टलमल, रुनझुन, गुंजन, सिसकना, हिलोर, छलकना, धूमिल, पुलक, कम्पन आदि शब्दों का प्रयोग मुक्त होकर आज के कवि ने किया है। कविवर पन्त ने पल्लव की भूमिका में इस प्रकार के कई शब्दों का विश्लेषण किया है, उन्हें 'भौंहों' से 'भोंहो' अधिक रुचिकर है।

'अरी सलिल की लोल हिलोर,
यह कैसा स्वर्गीय हुलास।
सरिता की चंचल दृग कोर,
यह जग को अविदित उल्लास।

आ मेरे मृदु अंग झकोर,
नयनों को निज छवि में बोर
मेरे उर में भर यह रोर।

इसमें सलिल, हुलास, चंचल, मृदुअंग, बोर--सभी शब्द श्रुति-मधुर हैं, संगीत-पूर्ण हैं। इस युग में विशेषण और भाववाचक संज्ञा से

अनेक विशेषण बनाए गए हैं। स्वप्न से 'स्वप्निल' 'ऐंचीला' बोलचालकी शब्द-रचना का द्योतक है, (खैंच ऐंचीला भ्रू-सुर-चाप), इन्द्र-धनुष-से इन्द्र-धनुषी, दुराव से दुराना आदि ऐसे ही शब्द हैं–

देखता हूँ जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूंघट बादल का
खोलती है कुमुद कला।

इस प्रकार नए-नए विशेषणों, भाववाचक सज्ञाओं, विशेषण-विपर्ययों, मूर्तीकरण, ध्वन्यर्थ-व्यंजना आदि ने नव-कविता-कामिनी को नितनूतन अलंकारों से अतीव सुन्दर बना दिया। अब सुन्दरी ने पुराने रूढ़िगत वस्त्रों को उतार कर नवीन तारकों से झलमल वस्त्रों को धारण किया, अब उसके वर्णन में छाया भी दमयन्ती-सदृश है -

'कहो कौन हो दमयन्ती सी,
तुम तरु के नीचे सोई।
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या,
अलि, नल सा निष्ठुर कोई ?'

नवीनता ने अपने युग को अपने सुन्दर गुणों में खूब रंग लिया है। एक युग ऐसा था जब स्वच्छन्दतावाद, नहीं स्वच्छन्दानुभूति और स्वच्छन्द–काव्य-रचना की प्रवृत्ति के कारण ऊपर कही हुई सभी मुख्य प्रवृत्तियों को लेकर 'प्रसाद', 'निराला' 'भारतीय आत्मा' और "पन्त" ने हिन्द में नवीन शैली के आधार पर काव्य–रचना आरम्भ की। इस नवीन काव्यधारा की नई अभिव्यंजन–प्रणाली पर पाश्चात्य काव्य-रचना-प्रणाली से अतिशय प्रभावित बंगकाव्य–रचना का, विशेषतः रविबाबू की शैली का प्रभाव पड़ा, रहस्यात्मक अभिव्यक्ति के साथ-साथ चेतनीकरण, मूर्तीकरण, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति, आलंकारिक, लाक्षणिक, व्यंग्यात्मक, अभिव्यंग्यात्मक तथा अन्य प्रकार की नयी अभिव्यंजन-रीतियाँ इन कवियों की कृतियों में अवतरित होने लगीं। और साथ ही दूसरी ओर, इस नयी आई हुई प्रणाली की,

नयी रचना-शैलियों से अपरिचित आलोचकों ने बड़ी कटु आलोचनाएँ की। उस समय एक ओर तो आलोचक इन नयी रचना-शैलियों से अपरिचित होने के कारण इनके सौन्दर्य-वर्णन में असमर्थ हो रहे थे—दूसरी ओर नवसिखुए कवि भी छायावाद और रहस्यवाद को स्वयं बिना समझे इन वादों के नाम पर अनर्गल रचना कर रहे थे। परिणाम यह हुआ कि छायावाद और रहस्यवाद के सौन्दर्य की आलोचना और उसका वास्तविक बोध तो दूर रहा—एक भाँति की बदनामी हाथ रही। पर वस्तुतः देखा जाय तो सौन्दर्य-दर्शन की नयी दृष्टियों से, समस्त चराचर प्रकृति और विश्व को एक, अंखड सौन्दर्य के प्रवाह से, आज के कवि ने परिलुप्त देखा और नयी पूर्वोक्त अभिव्यंजन-प्रणालियों में उसे अभिव्यक्त किया। परम सौन्दर्य की छाया से प्रतिबिम्बित होने के कारण ही उसका छायावाद नाम समझना चाहिए। इस वाद को किसी परिभाषिक वाद के भीतर बाधना उचित नहीं है। यही वस्तुतः आधुनिक छावावाद का साहित्यिक स्वरूप है। अभिव्यंजनावाद भी वस्तुतः सौन्दर्य-दर्शन की एक नयी प्रणाली है जिसमें कल्पना और कवि-प्रतिभा की नवीन उद्भावनाएँ नूतन अभिव्यक्ति-प्रणाली के रूप में प्रकट हुई हैं। अतएव आधुनिक युग के कवि को हम विशुद्ध सौन्दर्योपासक कह सकते हैं। चाहे प्रगतिवादी भले ही उसे उद्देश्यहीन कहें पर तटस्थ आलोचक आज की अभिव्यक्ति को सौन्दर्य-दर्शन की एक दृष्टि ही कहेगा। हिन्दी-काव्य के उर्वर क्षेत्र में नवागत इस अभिनव प्रणाली ने शब्दों की तलस्पर्शिनी भावमयी अर्थ-बोधकता को अभिरम और रुचिर बनाने में अपूर्व योगदान दिया है। इनके योग से आधुनिक हिन्दी-काव्य की जिस मनोहारिणी सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यक्ति शैली का प्रादुर्भाव हुआ वह भविष्यत् की काव्य-रचना-शैली को चिर-प्रेरणा देता रहेगा। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी तथा अन्य वादों का अनुसरण करनेवाली कविताएँ भी उक्त अभिव्यंजन-शैली का सर्वथा त्याग कर के कदाचित् न चल सकेंगी।

चतुर्थ उन्मेष

प्रकृति-सौन्दर्य

मानव और प्रकृति

विश्व-प्रांगण की अनुपम सुन्दरी प्रकृति ने सर्वप्रथम अपने मादक नेत्रों से चुपके-चुपके चारों ओर देखा और देख कर चारों ओर स्वर्ण बिखेर दिया। जलप्लावन के उपरान्त जिस समय शनैः-शनैः जल तिरोहित होकर किसी-किसी स्थान पर आंशिक रूप में रह गया उस समय शेष भाग हरित, कोमल, मृदुल पादपों से, बेलियों से लहलहा उठा। प्राची में उषा की अरुणाभा दृष्टिगत हुई, कनक-रश्मियों की दीप्ति से आलोकित विश्वश्री मुस्करा उठी। किंकर्तव्यविमूढ़ पुरुष ने प्रकृति का विकृत, अद्भुत, भयानक एवं रौद्र रूप देखा था, उसका हृदय कांप उठा था, सहसा उस अभिनव सुन्दर रूप को देख कर उसने सन्तोष की सांस ली। उसकी चेतना पुनः लौट आई। और उसने विश्व-सुन्दरी के चरणों में श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। प्रत्युत्तर में प्रकृति स्वयं झुक गई। उसने मानव का मूक समर्पण स्वीकार किया और आजन्म साहचर्य का वरदान दे डाला। तब से आज तक मानव उसका उपासक है और वह उसकी चिरसहचरी। सुख की सहृदय सखी, दुख की करुण प्रतिमूर्ति, मुस्कान सी मधुर, रोदन सी करुण और कसक सी कटु। सभी भावों का एक साथ समन्वय लिए वह सदा से मानव की अनुगता बनी रही और कदाचित् सदा ही बनी रहेगी। किन्तु ज्यों-ज्यों मानव की आसक्ति बुद्धि की ओर बढ़ती जायगी त्यों-त्यों प्रकृति अपना अक्षुण्ण प्रभाव रखते हुए भी फीकी सी लगने लगेगी।

प्रकृति और मानवका संबंध

इस प्रकार सृष्टि के आदि काल से ही प्रकृति का मानव से अटूट एवं अक्षय सम्बन्ध स्थापित हो गया। शैशव की क्रीड़ाएँ उसने प्रकृति के अंचल

में लुक-छिप कर पूरी कीं, किशोरावस्था की चपलताओं ने उसके कोमल अंगों से क्रीड़ा की, यौवन के अल्हड़ अलस दिवस उसने प्रकृति के कोमल वासन्ती स्पर्श में बिताए, जीवन के प्रौढ़ दिवस तप्त और कर्तव्य-शील ग्रीष्म से उत्साह पाकर बिताए, जग के जीर्ण दिवस शिशिर से कांप-कांप कर पूरे किए। अपने चारों ओर उसी का प्रभाव लिए मानव जीवित है। व्यावहारिक प्रपञ्च में व्यस्त मानव को मानव और प्रकृति का यह घनिष्ठ संसर्ग भले ही अज्ञात-रहस्य सा लगता हो पर भाव-प्रवण कवि के संवेदनशील सरल हृदय ने सदैव प्रकृति की सहृदयता का आभास पाया और उसके प्रभाव को प्रत्यक्ष अपना कर सब की दृष्टि के लिए यह सौन्दर्य सुलभ एवं उन्मुक्त कर दिया। आधुनिक युग में कृत्रिमता के उत्तरोत्तर विकस ने मानव को भले ही प्रकृति से दूर कर दिया हो, पर काव्य ने मनुष्य और प्रकृति के बीच घनिष्ठ एवं आत्मीयता के विकास की सदैव चेष्टा की है। बिजली के पंखे के संमुख प्रगतिशील मामव को जेठ की तपती हुई लू भले ही अच्छी न लगे, बिजली के कृत्रिम प्रकाश के मध्य उसे अमा की अन्धकारमयी रजनी भले ही अरुचिकर हो, किन्तु इन सबसे उसका चिरसहज स्नेह स्थापित नहीं हो सकता। वास्तविकता के क्रूर सत्य से बुद्धि जब घबरा उठेगी तब फिर उसे प्रकृति की आवश्यकता होगी। "जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पै आवे" वाली गति होगी।

अतः यद्यपि मानव चिरअतीत से ही कृत्रिमता के मोहक विलासमय उत्संग में सुख-प्राप्ति का प्रयास करता रहा और आनन्दान्वेषण की भूल-भुलैया में चक्कर काटता हुआ अप्राकृतिक साधनों से प्रस्तुत काल्पनिक सौन्दर्य की मोह निद्रा में सुख का आभास पाता रहा तथापि इन कृत्रिम साधनों से उसे सच्ची शान्ति न मिली। वास्तविक सौन्दर्य की विश्रान्ति के लिए उसे प्रकृति की ही शीतल छाया में शान्ति मिलती रही। इस प्रकार बुद्धि-वैभव की वृद्धि के साथ-साथ अनन्त कृत्रिम सौन्दर्यों की सृष्टि करने पर भी प्रकृति-सुषमा को जब-जब मानव भूलना चाहने लगा तब-तब सरस कवि

ने प्रकृति की सहज रमणीयता के गीत गा-गा कर उसे पथ-भ्रष्ट होने से बचाया और मानव को प्रकृति से विमुख नहीं होने दिया।

मध्ययुग के कुछ कवि परिस्थिति और लोक-रुचि के कारण कुछ क्षणों के लिए यद्यपि भटक भले ही गए थे तथापि प्रकृति की मधुरिमा ने शीघ्र ही कवि को पुनः अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। और अब ऐसा प्रतीत होता है जैसे मानव और प्रकृति कविता के सबसे प्रमुख वर्ण्य विषय हो गए हों। बुद्धिवादियों से यहां प्रयोजन नहीं। प्रकृति के रहस्यों का अनुसंधान एक वैज्ञानिक उपयोगिता की दृष्टि से करता है, किन्तु कवि के अनुसन्धान का क्षेत्र प्रकृति का सौन्दर्य-निरीक्षण है। एकमात्र विज्ञान के अनुचर भी प्रकृति की महत्ता माने बिना नहीं रह सकते। यदि उनके क्लान्त शरीर को शीत-लता प्रदान करने वाला यंत्र-व्यजन किसी कारणवश बन्द हो जाय तो अवश्य ही वे भी दम घोटने वाले प्रकोष्ठ को छोड़कर बाहर आ बैठेंगे, चाहे उनकी दृष्टि प्रकृति के उस उन्मुक्त विशाल क्षेत्र पर भले ही न पड़े। भावुक सहृदय कवि के हृदय की वृत्ति सदा से प्रकृति के वैभव पर मोहित होती रही है। कवि का आदि और अन्त, दोनों ही प्रकृति है। और एक बारः—

'कविता का पाठ समाप्त कर ज्यों ही कवि ने अपना स्थान ग्रहण किया, रस-विमुग्ध सुन्दरी पूछ बैठी—

"इन कविताओं की प्रेरणा तुम्हें कहां से मिली कवि ?"

'कवि ने सुन्दरी के आयत आर्द्र नयनों की ओर दृष्टि उठाई और फिर चुप हो गया। सुन्दरी का कौतूहल और जाग उठा, उसने फिर प्रश्न किया। इस बार कवि सुन्दरी के मुख की ओर तब तक अविचल देखता रहा देखता रहा जब तक उसको नेत्र वाष्प-धूमिल न हो गए, उसका कंठ अवरुद्ध न हो गया।

'उत्तर के लिए फिर आग्रह हुआ। इस बार कवि ने उत्तर दिया "देवि तुम्हारी आँखों में देखते-देखते मेरी आखें सजल हो गईं। मेरे मन के गहन स्तरों में सोई हुई ममता, रूप की आकांक्षा, पीड़ा, एक साथ द्रवित होकर आखों में आ गई। यही मेरी कहानी है" !'

वास्तव में सौन्दर्य के उद्दीपन से जब जीवन के संचित अभाव अभिव्यक्ति के लिए फूट पड़ते हैं तभी तो कविता का जन्म होता है। कविता के उद्रेक के लिए सौन्दर्य का उद्दीपन अर्थात् आनन्द और अभाव की पीड़ा, दोनों का संयोग अनिवार्य है। इन सब अनुभूतियों का प्रशस्त क्षेत्र है प्रकृति। यद्यपि मानव-सौन्दर्य पर भी यह बातें घट सकती है किन्तु मानब भी तो प्रकृति का ही एक लघु अंग है! केवल मानवीय दृष्टि व्यष्टि की दृष्टि हैं, और प्रकृति की दृष्टि समष्टि की। कविता-सौन्दर्य, मानव और प्रकृति, दोनों का सौन्दर्य है, प्रकृति का विशेषरूप से।

आधुनिक कविता में प्रकृति की महत्ता

आधुनिक कवि प्रकृति का उपासक है। आज के कवि को नैतिक उपदेशों में कोई विश्वास नहीं, क्योंकि उसकी धारणा है कि इससे रचनाओं का सौन्दर्य कुंठित हो जाता है। कवि शब्दचित्र उपस्थित कर अलग हो जाता है, और पाठक को अपने-अपने निर्णय पर पहुँचने की पूरी स्वतन्त्रता दे देता है। इसी कारण आज की प्रकृति-सम्बन्धी कविता अधिक मनोरम और आकर्षक है। प्रकृति के प्रति कवियों के संकेत भावपूर्ण और रोचक हैं। भारतीय संस्कृति, दर्शन और काव्य में प्रकृति का विशेष स्थान है। प्राचीन युग, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, प्राकृतिक वर्णनों से भरा पड़ा है। किन्तु आगे चल कर प्रकृति के प्रति प्रेम छिपता-सा जान पड़ता है। रीतिकालीन कवि नायिकाओं के सौकुमार्य और सुघराई पर ही इतने रीझे बैठे थे कि उन्हें दूसरी ओर देखनेतक का अवकाश न था। किन्तु नवयुग के साथ-साथ नवीन दृष्टि का आगमन हुआ, प्रकृति का विशद एवं यथार्थ चित्रण प्रारम्भ हुआ। बृहत् ग्रन्थों का प्रारम्भ प्राकृतिक पृष्ठ भूमि लेकर ही हुआ—

"दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु - शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी - कुल - वल्लभ की प्रभा।

विपिन - बीच विहंगम - वृन्द का,
कल निनाद समुत्थित था हुआ।
ध्वनिमयी विविधा विहगावली,
उड़ रही नभ - मंडल - मध्य थी॥"
[प्रिय - प्रवास, पृ० १]

रीति-शैली के कवि जहाँ अलंकार और अनेकार्थक शब्दों से अपनी प्रकृति-सम्बन्धी भावना व्यक्त करते है वहाँ आज का कवि अपने गहन गम्भीर स्वरों में प्रकृतिासुषमा की गाथा गाता हुआ कह उठता है—

"गरज, गगन के गान गरज गम्भीर स्वरों में,
भर अपना सन्देश उरों में औ' अधरों में।
बरस, धरा में बरस सरित, गिरि, सर, सागर में,
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का, क्षण भर में॥"
[पल्लव]

दूसरी ओर निराला जी बादल का स्वागत कर रहे हैं—

"झूम झूम मृदु गरज गरज घन घोर
राग अमर अम्बर में भर निज रोर।"
[नवयुग काव्यविमर्श, पृ० १७५]

इसी प्रकार हरिऔध जी प्रकृति के स्निग्ध वातावरण को देख मुखर हो उठे हैं—

"सरस सुन्दर सावन मास था
घन रहे नभ में फिर घूमते।
विलसती जिनमें वहुधा रही,
छविमयी उड़ती बकमालिका।
घहरता गिरि सानु समीप था,
बरसता छिति छू छवि-वारि था।

घन कभी रवि-अंतिम अंशु ले,
गगन में रचता बहुचित्र था ॥"
[प्रिय-प्रवास]

इसमें न तो अलंकारों की भरमार है न दीनजी के सदृश मेघों की राम-कृष्ण से तुलना की गई है—

"वे सदल बांधि अम्बुधि तरे तुम बिन श्रम सागर तरत ।
हे घनवर तुम श्रीराम तें प्रबल ही लखि परत ॥"
[दीन जी]

उपाध्याय जी का चित्रण यथार्थ चित्रण का एक सफल प्रयास है । प्रसाद जी स्वच्छन्दतावाद के द्वितीय चरण में इसी प्रकार कुछ और अनुभूति लेकर मेघ से कहते हैं—

"अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब,
सुखी सो रहे थे इतने दिन कैसे हे नीरद निकुरंब ।
बरस पड़े क्यों आज अचानक, सरसिज कानन कर संकोच,
अरे जलद में भी यह ज्वाला झुके हुए क्यों किसका सोच ।
किस निष्ठुर ठंढे हृत्तल में जगे रहे तुम बर्फ समान,
पिघल रहे किस की गर्मी से हे करुणा के जीवन प्रान ।
चपला की व्याकुलता लेकर चातक का ले करुण विलाप,
तारा - आँसू पोंछ गगन के रोते हो किस दुख से आप ।"

ऐसा प्रतीत होता है कि कवि अपने किसी चिरपरिचित बिछुड़े हुए मित्र से अचानक मिल गया है और उसी विह्वलता–मिश्रित प्रसन्नता में बहुत से प्रश्न एक साथ कर बैठता है । आज का कवि प्रकृति में सचेतन साथी की खोज करता है और अपनी कल्पना द्वारा उसे अपने अनुरूप बना कर गा उठता है ।

प्रकृति के प्रति आत्मीयता

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृति से हमारा एक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित है । वह हमारे जीवन से इतनी घुलमिल गई है कि उसे

भिन्न देखना ही कठिन है। सच्चे भावुक की दृष्टि से यदि देखा जाय तो प्रकृति के प्रति अनुराग का कारण अपना सुखभोग नहीं वरन् चिरसाहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। चेतन सौन्दर्य की दीप्ति हमें आकृष्ट करती है, कौतूहल जागरित करती है और अभिलाषाओं को जन्म देती है। किन्तु अचेतन सौन्दर्य की निरीह अनुभूति एक ओर यदि मुग्ध कर लेती है तो दूसरी ओर तन्मयता प्रदान करती है और तृप्ति से भर देती है। आज के कवि ने चेतन और अचेतन का सुघर सामंजस्य स्थापित कर लिया है। वह केवल चेतन-सौन्दर्य के घेरे में बँधा हुआ नहीं है, शिशुओं की भोली मुस्कान, उनकी निरीह छवि, रमणी की सलज्ज नम्र आकृति तक ही परिमित नहीं, उसे तो प्रकृति की एक-एक कला में चेतन सौन्दर्य की दीप्ति मिलती है। सागर का उद्वेलन पूर्ण इन्दु को देख कर विह्वल हो गर्जन-तर्जन से भर उठना, सागर के उन्मत्त स्नेह का द्योतक है। कदाचित् वह इन्दु का स्पर्श पाने के लिए इतना मचलता है। उषा सलज्ज नवोढ़ा सी आकर विश्व को उल्लास से भर जाती है। धीरे-धीरे प्रशान्त प्रौढ़ा सी सन्ध्या अस्थिरता एवं नश्वरता की सूचना दे जाती है। इन प्राकृतिक व्यापारों में कवि ने चेतना की दीप्ति, मानवता का माधुर्य और जागरण की स्फूर्ति का अनुभव किया है। यह आधुनिक युग की विशेष देन है। आधुनिक कवि अनेक शैलियों के सहारे अपना भाव व्यक्त करता है। अतः कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों को विचार में रखते हुए विवेचन करना यहाँ अनुपयुक्त न होगा।

काव्य में प्रकृति और अधुनिक प्रवृत्तियाँ

आधुनिक कवि अपनी अनुभूति से मिश्रित सुकोमल भावना और मनोहर कल्पना लेकर प्रकृति-निरीक्षण के लिए निकला, जिस रूप में, जिस प्रकार उसकी वृत्ति रमी वैसा ही चित्र उसने उतार दिया। भारतीय साहित्य के काव्यों में प्रकृति का परम्परागत चर्वण प्रचलित था, जैसे ऋतु-वर्णन, समुद्र-वर्णन इत्यादि। महाकाव्यों का तो यह एक आवश्यक अंग ही था। भवभूति के उत्तर-रामचरित आदि में दण्डकारण्य आदि का वर्णन इस प्रणाली का

का समर्थक है। हिन्दी में भी प्रारम्भिक महाकाव्य-रचयिताओं में यही प्रवृति परिलक्षित होती है। प्रकृति के विभिन्न व्यापारों की ओर कवि-दृष्टि उन्मुख नहीं हुई थी। गुप्त जी का निदाघ-वर्णन इसी कोटि में है। इस प्रकार अन्य रचनाओं में भी यही प्रवृत्ति खोजी जा सकती है। यहां इसका विशद विवेचन न कर हमें यही देखना है कि प्रकृति-चित्रण में किन प्रणालियों का प्रचलन था।

प्रकृति पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति वर्णन साहित्य—शास्त्रियों के अनुसार बहुत कुछ मानवीय भावनाओं और कार्यों की भूमिका अथवा पृष्ठभूमि के रूप में होता चला आया है। प्रकृति हमारी हृदयगत भावनाओं के उद्रेक में साधक होती रही है। प्रबंध-काव्यकारों ने प्रायः इसी प्रकार का प्रकृति—चित्रण किया है। 'प्रिय-प्रवास' का प्रत्येक अध्याय प्रकृति-वर्णन से प्रारम्भ होता है। "पंचवटी", 'मिलन' 'बुद्ध-चरित' इत्यादि इसी प्रकार के प्राकृतिक वर्णनों से पूर्ण हैं। 'प्रेम-पथिक' और 'ग्रन्थ' में प्रकृति नायक-नायिकाओं के स्वच्छन्द-प्रेम की भूमिका के रूप में ही प्रस्तुत की गई है। मानवीय कार्यों एवं भावनाओं पर प्रकृति, स्थान, समय एवं वातावरण का प्रभाव स्वभावतया पड़ता रहता है। पंचवटी के आरंभ में ही कवि उस शान्त, स्निग्ध, सुसज्जित वातावरण की सूचना दे देता है—

'पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से।
मानो झीम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोकों से।'

[पंचवटी, पृ० १]

जब वनवासी योगी, लक्ष्मण की सहज छवि पर मुग्ध शूर्पणखा तर्क-वितर्कों से उन्हें पराजित कर देने में संलग्न थी, तभी शनैः-शनैः उषाकाल समीप आ गया। उधर जनकनन्दिनी ने पर्णकुटी के द्वार को उन्मुक्त कर रंगस्थल में प्रवेश किया—

'इसी समय पौ फटी पूर्व में, पलटा प्रकृतिपटी का रंग,
किरण-कंटकों से श्यामाम्बर फटा दिवा के दमके अंग।

कुछ-कुछ अरुण सुनहली कुछ-कुछ प्राची की अब भूषा थी,
पचबटी की कुटी खोल कर खड़ी स्वयं क्या उषा थी ?'

[पंचबटी, पृ० १३]

प्रेम-पथिक में प्रकृति का पृष्ठभूमि के रूप में चित्रण सुन्दर हुआ है—

"छोटे छोटे कुंज तलहटी गिरि कानन की शस्यभरी,
भर देती थी हरियाली ही हम दोनों की हृदयों में।
कल नादिनी प्रवीणा तटिनी पूर्ण प्रवाह बहाती थी,
प्रेमचन्द्र प्रतिविम्ब कलेजे में लेकर खेला करती
व्योम अष्टमी का जो तारों से रहता था भरा हुआ,
उसके तारे भी चुक जाते जब गिनते थे हम दोनों।

[प्रेम-पथिक]

भावोद्दीपन के अनेक प्राकृतिक दृश्य पाए जाते हैं। हल्दीघाटी में कवि की प्रकृति, वीरों की ललकार के गभीर रव को और भयंकर और गुरुतर बना रही है—

"वह घटा चाहती थी जल से सरिता सागर निर्झर भरना।
यह घटा चाहती शोणित से पर्वत का कण कण तर करना॥
नभ पर चम चम चपला चमकी,
चम चम चमकी तलवार इधर।
भैरव अमन्द घन नाद उधर,
दोनों दल की ललकार इधर॥"

[हल्दीघाटी, पृ० ११४]

'ग्रन्थि' में कवि ने मूर्छा के उपरान्त ज्यों ही अपने तन्द्रिल अलस नयन खोले, उसे प्रेयसी की बिखरी हुई रूपराशि दिखाई पड़ी, गगन और स्थल, दोनों में ही सामंजस्य स्थापित हो रहा था—

'इन्दु पर उस इन्दु मुख पर साथ ही थे पड़े मेरे नयन जो उदय से
लाज से रक्तिम हुए थे–पूर्व को–पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था।'

[ग्रन्थि, पन्त]

इसी प्रकार साकेत में सीता, बन में राजभवन का सुख प्राप्त कर रही हैं, प्रकृति, उनकी क्रीड़ा और कल्पना, दोनों को मधुर बना रही हैं—

> "किसलय-कर स्वागत हेतु हिला करते हैं
> मृदु मनोभाव सम सुमन खिला करते हैं।
> डाली में नव फल नित्य मिला करते हैं
> तृण-तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं।
> निधि खोले दिखला रही प्रकृति निज माया।
> मेरी कुटिया में राजभवन मनभाया।
>
> [साकेत, पृ० १५८]

इन उदाहरणों में प्रत्येक स्थान पर कवि का प्रकृति-वर्णन प्रकृति के लिए अथवा प्रकृति को प्रमुख स्थान देकर नहीं हुआ है, पात्रों के भावानुकूल परिस्थिति उपस्थित करने के लिए किया गया है। प्रकृति उनकी पृष्ठभूमि बन कर आई है, स्वतः आधार बन कर नहीं। इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन को यदि हम अलंकार-शास्त्र की परिभाषा से बाँधना चाहें तो कुछ अंश तक उद्दीपन-विभाव कह सकते हैं। यह प्रकृतिक-वर्णन पुरानी कविता के अनुसार कहीं-कहीं केवल परम्पराभुक्त ही रह जाता है। इसी प्रवृत्ति के कारण परम्परानुसारी अनेक कवि तो प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत के विधानार्थ नेत्रों को कष्ट देना पसन्द ही नहीं करते थे, उनके लिए न तो प्रकृति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व था न उतना उन्मुक्त हृदय। इस परम्परा के अन्धानुसरण के कारण रीतिकालीन अनेक कवियों की कविता में एकरूपता आ गई है। इसे दूर करने के लिए कुछ लोगों ने 'क्षणे क्षणे नवतामुपैति' का आदर्श भी सामने रखा, किन्तु उस कवि-प्रतिभा का प्रयोग क्लिष्ट कल्पना करने में ही प्रयुक्त हुआ।

प्रकृति—आलंबनरूप में

किन्तु कवि की स्वच्छन्द भावुकता के सामने यह रूढ़िग्रस्त, जीर्ण और पराधीन कविता-शैली टिक न सकी और शनैः-शनै आज का कवि

स्वयं प्रकृति को देख कर उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, पुस्तकों को उलट-पुलट कर नहीं। समय के साथ-साथ रुढ़ि-ग्रस्त कल्पना विलीन होती गई, उद्दीपन रूप में प्रयुक्त होने पर भी प्रकृति के प्रति दृष्टि अधिक उदार हो गई। कवि का भावुक हृदय प्रकृति-सुन्दरता से उसी भाँति मुग्ध होने लगा, कवि-भावना की क्रियाशीलता के लिए प्रकृति-सौन्दर्य से उसी भाँति उत्प्रेरणा मिलने लगी जिस भाँति नर-नारी के शारीरिक और शीलगत सौन्दर्य से। अतः कवि की वृत्ति इन प्राकृतिक वर्णनों में रमी-सी, आत्म-विभोर-सी जान पड़ती है। इन वर्णनों में प्रकृति का योग केवल पृष्ठभूमिके रूप में न होकर सूक्ष्म विवरण के साथ होने लगा। शुक्ल जी के शब्दों में संश्लिष्ट-योजना की ओर दृष्टि उन्मुख हुई। आधुनिक खंड-काव्यों और महाकाव्यों एवं मुक्तक प्रगीतों में ऐसे वर्णन भी मिलते हैं जिनमें यदि [illegible] की परिभाषिक संकीर्णता को छोड़ कर विचार करें तो उन्हें उद्दीपनात्मक या पृष्ठभूमि-सा न कह कर कवि के प्रकृति-विषयक रति का प्रकृति को आलम्बन कह सकते हैं। हमारी रागादि वृत्तियों के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है और हमारे भावों का संस्करण और परिष्करण भी इनके योग से होता है। जिस प्रकार जगत् अनेक रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। इन भावों का परिष्कार तभी हो सकता है जब इनका प्राकृत सामंजस्य जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाय। इन्हीं भावों के आधार पर मानव-जगत् प्रकृति-जगत् के साथ चिरकाल से तादात्म्य का अनुभव कर रहा है। अतः इन्हें काव्य-प्रयोजन के लिए मूलरूप कहना अनुचित न होगा। गहन वन, विशाल काय पर्वत, कलकल निनाद करती स्रोतस्विनी, निर्झर, वृक्ष, वल्लरी, कुंज, झाड़ी, पुष्प, नीलाकाश, रिमझिम-रिमझिम बरसते मेघ, गम्भीर पर उर्मिल उदधि-यह सब मानव को उसके आदि काल से मुग्ध करते चले आ रहे हैं। मानव ने उनकी क्रोड़ में निरीह शिशु सा पड़ा जीवन बिताया, कभी उनका प्रयोग किया, कभी उनकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर, प्रमुदित होकर पुलक उठा। आदि-कवियों ने प्रकृति को इसी रूप में ग्रहण

किया। विश्व की इस अद्भुत सुषमा को देख कर वह नाच उठा। उनका हृदय भी पाश्चात्य कवि "वर्डसवर्थ" के सदृश इन्द्रधनुष को देख कर हर्ष से उछल पड़ा। कवि में आनन्द का सहजोद्रेक होता है। वह अपनी प्रसन्नता, अपनी पुलक छिपा नहीं सकता। जिस प्रकार बालक किसी नवीन अद्भुत वस्तु को देख कर हर्ष से पागल हो उठता है उसी प्रकार कवि भी चिर-सहचरी सुन्दरी प्रकृति को अपने स्नेह के आलम्बन रूप में देख कर हर्ष और उल्लास से पुलकित, प्रमुदित हो उठता है—

अरुन चरन पकज नख जोती।
कमल दलहि बैठे जनु मोती॥

वर्तमान युग में लौकिक आलम्बन भी अलौकिक रूप धारण कर लेता है—

"दूर हंसते तरकों से रूठ कर
कंटकों की सेज पर सपने बिछा
मंद मारुत के करुण संगीत सी
सो गई मैं एक अलस गुलाब सी,
आंसुओं का ताज तब पहना गया
जो मुझे चुपचाप अलि कौन था?"

काव्यगत आलम्बन दो प्रकार के होते हैं, एक तो वे जो कवि की कल्पना के आलम्बन होकर फिर पाठक के बनते हैं और दूसरे वे जो कवि के आल-म्बनहोकर पाठक अथवा श्रोता के आलम्बन बनते हैं। प्रकृति को आलम्बन रूप में लेनेवाले कवियों ने अधिकतर प्रकृति का सूक्ष्म और संक्षिप्त चित्रण किया है और अपने भावों की व्यंजना ऐसे रूप में की है जिससे प्रकृति के प्रति हमारे भी भाव उसी प्रकार के हो उठते हैं, अर्थात् आश्रय और पाठक अथवा श्रोता का तादात्म्य सा हो जाता है। प्राचीन काल में प्रकृति के साथ साधारणीकरण की यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती थी। गोस्वामी जी ने वर्षा के बादलों में दामिनी की दमकमात्र देखी —

"दामिनी दमक रही घन माही।
खल के प्रीति-यथा थिर नाहीं।"

जायसी—'खड्ग बीजु चमके चहुँ ओरा'—अप्रस्तुत रूप में केवल इतना कहकर संतुष्ट हो गए। कवि की कल्पना उसे अपनी जिज्ञासापूर्ण कुतूहल-मय अनुराग का आलम्बन बनाकर, उसका प्रभाव विस्तार करती हुई पूछ रही है—

"ज्योतिर्मयी कृश कांचनबर्णी चंचल कौन गगन में हो
प्रकट और फिर अंतर्हित हो, कौन भ्रमित-सी घन में हो।
क्या जादूगरनी हो कोई चकाचौंध फैलाती हो
या कि व्यथित हो कभी तड़पती कभी मूक बन जाती हो।
क्या तुम वासकसज्जा हो जो प्रियतम बाट जोहती हो
गगन द्वार से झांक झांक कर सबका चित्त मोहती हो।"

[रामेश्वरी देवी]

आधुनिक कविता में ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जहां कवियों की सूक्ष्म दृष्टि प्रकृति के साधारण से साधारण व्यापार तक पहुँच गई है—

"जब तुहिन भार से चलता था धीरे-धीरे मारुत कुमार
तब कुसुम कुमारी देख-देख उस पर हो जाती थी निसार।
लोनी लतिका पर झूल-झूल बिखराते कुसुम पराग प्यार
हँस हँस कर कलियां झांक रही थीं खोल पखुरियों के किवार।"

[हल्दीघाटी, पृ० ९२]

"नीलम पल्लव की छांव से थी ललित मंजरी काया
सोती थी तृण-शय्या पर कोमल रसाल की छाया।"

[वही पृ० १०६]

यद्यपि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, साहित्य शास्त्र की पारिभाषिक संकीर्ण शब्दावली के अनुसार इस वर्णन को भी उद्दीपन विभाव कह सकते हैं तथापि पाठक स्पष्टतः कवि-भावना का आलम्बनत्व ऐसे संश्लिष्ट वर्णनों में अप्रयास ही देख सकते हैं। जब तक प्रकृति की मनोहरता से कविहृदय

अभिभूत नहीं हो जाता, जब तक उसका सहज अनुराग प्रकृति की सुन्दरता में अपना आलम्बनत्व नहीं देखने लगता, तबतक प्रकृति के सूक्ष्म और भव्य वर्णन की क्षमता उसमें नहीं आ सकती और न इतने विस्तृत वर्णन में उसे कोई आनन्द ही मिलेगा। इस आलम्बनरूप से प्रकृति-वर्णन के उदाहरण प्रबन्ध काव्यों के प्रकृति-वर्णन के अतिरिक्त आधुनिक मुक्तकों और प्रगीतकों में भी पर्याप्त दिखाई पड़ते हैं। फूलों बनों, पर्वतों, चन्द्र आदि के स्फुट वर्णन इस श्रेणी में आ सकते हैं।

आजकल प्रकृति-वर्णन के लिए चित्रात्मक प्रणाली का प्रयोग किया जा रहा है। उसके मूल में प्रकृति का भावालम्बनत्व ही प्रमुख कारण है। जब इस संश्लिष्ट वर्णन की प्रणाली अत्यधिक सजीव और विस्तृत होती है, जब वह वर्णन दृश्योत्थापक और अतिसंश्लिष्ट होता है, तब उसे चित्रात्मक वर्णन-प्रणाली कहा जा सकता है। ऐसे वर्णनों में कवि प्रकृति के बाह्य रूप का विस्तृत विवरण के साथ अंकन करते हैं। उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति इस कार्य में सहायक होती है। प्रकृति के पावन प्यार में पल कर पन्त में पर्वत प्रदेश के स्वतन्त्र जीवन के प्रति अगाध प्रेम है:—

> **"पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश, पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेष।**
> **मेखलाकार पर्वत अपार अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़।**
> **अवलोक रहा है बार बार नीचे जल में निज महाकार।**
> **जिसके चरणों में पला ताल, दर्पण सा फैला है विशाल।**
> **गिरि का गौरव गाकर झरझर मद से नस नस उत्तेजित कर**
> **मोती की लड़ियों में सुन्दर झरते हैं झाग भरे निर्झर"**

[पल्लव]

कवि की कल्पनामय आँखें उक्त पंक्तियों में वर्णित दृश्य-विशेष के विवरणों को तब तक देख न पातीं जब तक उसका हृदय प्रकृति-सुन्दरी की शोभा निरखने में अनुरक्त न होता। आगे के दृश्यों का भी वह सजीव चित्र खींचता है सहसा कुहासा सा छा जाता है। कोई भी वस्तु दृष्टिगत नहीं

होती। केवल झरने का कल नाद सुनाई पड़ता है। झील पर धुआं उठ रहा है, मानो वह जल गई हो—

"उड़ गया अचानक लो भूधर फड़का अपार पारद के पर,
रव शेष रह गए हैं निझर, हैं टूट पड़ा भू पर अम्बर।
धँस गए धरा में समय-ताल उठ रहा धुआं जल गया ताल,
यों जलद-यान में विचर विचर था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल।"

[पल्लव, पृ० ९]

कवि के हृदय में प्रशान्त सन्ध्या ने भी नवीन भावना जागरित कर दी है:—

"नीरव सन्ध्या में प्रशान्त,
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त।
पत्रों के अनन्त अधरों पर सो गया निखिल बन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर।
खग कूजन भी हो रहा लीन,
निर्जन गोपथ अब धूलि हीन।
धूसर भुजंग सा जिह्म क्षीण,
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रशान्ति को रहा चीर।
सन्ध्या प्रशस्ति को कर गभीर।"

[गुंजन, पृ० ७६]

इसी प्रकार नौका विहार के समय कवि ने गंगा का सजीव चित्र उपस्थित किया है। लहरों का दुकूल रह-रह कर लहरा उठता है, जिसकी वर्तुल मृदुल लहर साड़ी की सिकुड़न सी प्रतीत हो रही है—

"चांदनी रात का प्रथम प्रहर, हम चले नाव लेकर सत्वर।
सिकता की सस्मित सीपी पर, मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो पालें बंधी खुला लंगर
निश्चल जल में शुचि दर्पण पर, बिम्बित हो रजत पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षणभर
विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे हैं तारक दल।"

[गुंजन, पृ० ९४]

दूसरी ओर प्रसाद जी की स्वभावतः सुन्दर प्रकृति भी, प्रलयकाल में विशाल और विराट् हो उठती है:—

"उधर गरजतीं सिन्धु लहरियां
कुटिल काल के जालों सी
चली आ रहीं फेन उगलती
फन फैलाए व्यालों सीं।"

[कामयनी, पृ० १८]

गुरुभक्त सिंह जी में प्रकृति-निरीक्षण की सच्ची आखें हैं। नूरजंहा में प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रवाह फारस की शोभा से लेकर काश्मीर की सुषमा तक बहता चला आया है। प्रकृतिक दृश्यों के उनके वर्णन बड़े ही सजीव हैं। प्रकृति के चित्रों का अंकन करते हुए गुरुभक्त सिंह ने उनके व्यापारों में मानवीयता का जो भावुक आरोप किया है, उसने कविता में प्राण डाल दिया है—

"अंगारे पश्चिमी गगन के झवां झवां कर लाल हुए,
निर्झर खो सोने का पानी पुनः रजत की धार हुए।
रश्मि-जाल के खेल खेल कर आंखमिचौनी तरुछाया,
सोने चली गई दिनपति संग बिलग नहीं रहना भाया।
केवल एक काक का जोड़ा अभी बहुत घबराया सा,
उड़ता हुआ चला जाता है धुंधले में कां कां करता।"

[नूरजहां पृ० ६६]

"तारे नदी-सेज पर सोए थपकी देने लगी लहर,
रुधा गला मोथा सेवार से सरिता का धीमा है स्वर
कटे करारों से लटकी है गांठदार कुश तृण की जड़।"

[वही]

घने जंगलों के सुन्दर वर्णन का एक चित्र देखिए:—

"आगे जंगल था घना बड़ा तरु ही तरु थे हरियाली थी,
छिलते थे छिलके हिलने में तिल भर भूमि न खाली थी।
नीके से पौधे गए निकल तरुवर वयस्क हो बगली दे,
वारिद सा उठते जाते थे नभ पर हरीतिमा सागर से।
बादल सा दल फैलाते थे उड़ जाने को नभ मंडल में,
लतिकाएं प्रेमपाश से जकड़े रहती अपने अञ्चल में।
तृण भी वृक्षों से होड़ लगा कर उठते जाते थे ऊपर,
लतिका-भूषित तरु शाख जाल में विहंगों के फँस जाने पर
थीं ऊची नीची भूमि कहीं चढ़ती गिरती हरियाली थी,
खगकुल के कल संगीतों से झंकृत हर डाली डाली थी।"

[नूरजहां, पृ० ३७]

पर्वत-स्मृति में मनोरंजन प्रसाद सिंह का चित्रात्मक वर्णन ऐसा सुन्दर उतरा है मानों कवि का हृदय गिरि-सुषमा पर निछावर हो गया है—

"गिरि सरिता का वह अल्हड़ खेल चपल लहरों का
चीड़-विपिन की सुरभि लिए सुन्दर समीर का झोंका।
पयस्विनी के सुन्दर तट पर वह लहराते धान,
बटोही फिर वह मीठी तान।
सन्ध्या की वह म्लान माधुरी शीतल सुन्दर छाया
अन्धकार की चादर ओढ़े ऊंचे गिरि की काया।
धीरे धीरे हाय हो गए सारे स्वप्न समान,
बटोही फिर वह मीठी तान।"

[गुनगुन, पृ० ५३]

कवि को फूल, पत्ते, सुग्गे सभी—उल्लास से भर देते हैं—

फूलों पर मधुपों का गुंजन. फुलचुग्गी का मंजुल रुनझुन।
सुग्गों का फल खाना चुपचुप यह सब बन में लख सुन सुन।
कैसा मन जो उठता न डोल।
रे पंछी मंजुल बोल बोल।"

[उमंग, पृ० ३८]

प्रकृति की संवेदनशीलता

चित्रात्मक वर्णनों के साथ-साथ आधुनिक कवि के वर्णन में संवेदनशीलता की छाया स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ती है। संवेदनात्मक शैली में काव्य-रचना करने वाले कवि अधिकतर प्रकृति के विषय में सूक्ष्म तथा आवश्यक संकेत कर देते हैं। इनके प्रकृति-सम्बन्धी उद्गार कुछ व्यक्तिगत होते हैं। भावों की अत्यधिक संवेदनशीलता के कारण कवि को समस्त प्रकृति में अपने ही हृत्तारों की झंकार मुखरित होती प्रतीत हो रही है। उसे समस्त प्रकृति में अपनी भावना ओत-प्रोत दिखाई पड़ती है। कवि की भावना प्रकृति के रूपों को अपने रंग में रंग देती है। किसी विशेष ज्वालापूर्ण मनःस्थिति के कारण पन्त को सुनहली सन्ध्या भी ज्वालामय लाक्षागृह की प्रतिकृति प्रतीत होती है—

"धधकती है जलदों से ज्वाल बन गया नीलम व्योमप्रवाल।
आज सोने का सन्ध्या काल जल रहा जतुगृह सा विकराल।"

[पल्लव, पृ० १९]

निराश्रय निराश छाया को वृक्ष के नीचे सोई देख कर अपने हृदय की करुण-प्रवणता के कारण उसे करुणा हो आती है। वह पूछ बैठता।—

'छोड़ गया तुझे क्या, अलि नल सा निष्ठुर कोई'।

अपनी इस संवेदनशील भाव-प्रवणता के कारण आधुनिक युग का कवि प्रकृति से निरन्तर नितनवीन सन्देश पाता रहता है और अपने सुख-दुख का प्रतिबिम्व उसी के निर्मल दर्पण में देखना चाहता है। अतः यहां उसकी रचना बहुत-कुछ उसके मनोभावों पर निर्भर है। यदि वह प्रसन्न है तो प्रकृति उसके लिए आह्लादमयी है, अन्यथा उसे प्रकृति में भी रोदन का ही स्वर, विषाद और सन्ताप का ही राग, विरह और व्यथा का ही गीत सुन पड़ता है। रामकुमार जी का रोदन सजल बादल के ही साथ फूट पड़ा है—

"किसने मरोड़ डाला बादल जो सजा हुआ था सजल वीर।
केवल पल भर में दिया हाय, किसने विद्युत का हृदयचीर।

इतना विस्तृत होने पर भी क्यों, रोता है नभ का शरीर।
वह कौन व्यथा है जिस कारण, है सिसक रहा तरु में समीर।"

[चित्रलेखा]

शान्त स्तब्ध प्रकृति की नीरवता रह-रह भंग हो जाती है। कवि को कौतूहल होता है। उसकी रहस्यपूर्ण संवेदना जाग उठती है और वह प्रश्न कर बैठता है—

"शान्त सरोवर का उर किस इच्छा से लहरा कर
हो उठता चंचल चंचल
सोए वीणा के स्वर क्यों मधुर स्पर्श से भर भर
बज उठते प्रतिपल प्रतिपल।"

[गुंजन, पृ० ४]

निद्रा की मधुमयी गोद में जब विश्रान्त विश्व शिशु सा नादान मधुर निद्र में खोया है उस समय कवि को एक मूक निमन्त्रण मिलता है—

"न जाने नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन"

उसे कोमल प्रसून अपना सन्देश सौरभ के मिस भेजते प्रतीत होते हैं और उसका पथ आलोकित करने के लिए, मार्ग में कठिनाइयों से रक्षा के लिए जुगनुओं के नन्हें-नन्हें दीप जल उठते हैं—

'न जाने खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन'"

कवि को निरन्तर अपने साथ कोई छाया लगी दृष्टि गत होती है। उसे अपनी निरीहता पर तरस हो आता है तभी वह अपने अज्ञात सहचर को सम्बोधन करता है—

"सुझाते हो तुम पथ अनजान।
फूंक देते छिद्रों में गान
क्षुब्ध जल शिखरों को जब बात,
सिन्धु में मथ कर फेनाकार,

बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना विखरा देती अज्ञात,
उठा तब लहरों से कर मौन, न जाने मुझे बुलाता कौन ।"

रहस्यात्मक संकेत

इस प्रकार कवि-हृदय की संवेदनशील प्रेषणीयता के कारण प्रकृति के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, प्रकृति से उसे रहस्यात्मक संकेत मिलते रहते हैं। जैसे कवि दुःख, सुख में प्रकृति का आवाहन करता है वैसे वह भी उसे बुलाती है। चिरसुन्दर अभिनव दृश्य कवियों की उत्सुकता और जागरित कर देते हैं और उसका मानस रहस्यात्मक सकेतों से भर उठता है। आनायास मुस्कान उससे सम्हाले नहीं सम्हलती—

"कभी उड़ते पत्तों के साथ मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ा कर लहरों से निज हाथ बुलाते फिर मुझको उस पार।
नहीं रखती मैं जग का ज्ञान और हँस पड़ती हूँ अनजान,
रोकने पर भी तो सखि हाय, नहीं रुकती तब यह मुस्कान।"

जब रहस्यमय सकेत उससे मूक आलाप करते रहते हैं तब कभी-कभी वह पूछ बैठता है: —

प्रथम रश्मि का आना रंगिनी तू ने कब पहचाना
कहाँ कहाँ हे बालविहंगिनि पाया तूने यह गाना?

फिर उसे उसका उत्पत्ति-स्थान जानने का कौतूहल होता है:—

"उषा की कनक मदिर मुसकान
उसी में था क्या यह अनजान"

कभी-कभी प्रकृति के सन्देश वह स्पष्टतः पढ़ लेता है। करुणा और कोमलता की कवयित्री का कवि-हृदय आकाश के दीपों की नीरख भाषा पढ़ कर जगत्-तारों का लुकाना छिपाना एक स्वाभाविक क्रिया समझ कर कह उठता है :—

"तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार।
आंसू से लिख जाता है कितना अस्थिर है संसार।"

कवि ने कई स्थलों पर कहा है कि मैने नीरव निशाएँ आकाश की ओर देखते देखते बिता दीं। क्यों कि जब निस्तब्ध रात्रि में कुमुद और रश्मियों, अनिल और तारकों के बीच स्निग्ध व्यापार चलता रहा है उस समय भी प्रकृति के आवरण में छिपी हुई रहस्यमय सत्ता के अव्यक्त आह्वान को वह ध्यान से सुनता रहता है—

"कुमुदबन से वेदना के दाग को
पोंछती जब आसुओं से रश्मियां।
चौंक उठती अनिल के निश्वास छू
तारिकाएँ चकित सी अनजान सी......।"

[रश्मि, पृ० १९]

कवि-हृदय उदासीन था कि सहसा उसे अनन्त नीलिमा में स्पन्दन प्रतीत होने लगा। रहस्यमय के आगमन के आनन्द से आकाश मुस्काता प्रतीत हुआ, प्रकृति प्रसन्न है

'मुस्काता सङ्केत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले है ?

झुके हुए सजल मेघों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वे कोई संदेश लेकर आए हों और कहने के लिये झुक गए हों—

"लाये कौन सन्देश नए घन,
अम्बर गर्वित—
हो आया नत—
चिर निस्पन्द हृदय, हृदय में उसके
उमड़े री पुलकों के सावन।"

मन्द समीरण न जाने किसकी सुधि से इठलाता चला आ रहा है।

'न जाने किस जीवन की सुधि ले,
लहराती आती मधु बयार।
तारक-लोचन से सींच सींच नभ करता रज को निरज आज,
बरसाता पथ में हरसिंगार केशर से चर्चित सुमन लाज।
कण्टकित रसालों पर उठता है पागल पिक मुझ को पुकार,
लहराती आती मधु बयार।।"—

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कवियों को प्रकृति से सदैव रागात्मक अथवा विरागात्मक संकेत मिलते रहते हैं और कभी-कभी इन्हीं सकेतों से वे रहस्य वादी भी हो उठते हैं। यह रहस्य भावना उसकी संवेदनशीलता का ही एक स्वरूप है। प्रसाद जी की 'पेशोला की प्रतिध्वनि' भी संवेदनात्मक प्रणाली की एक सुन्दर कृति है—

"अरुण करुण विम्ब।
निर्धूम भस्म-रहित ज्वलन्त पिंड।
विकल विवर्तनों से,
विरल प्रवर्तनों से।
श्रमित नमित सा—
पश्चिम के व्योम में हैं निरवलम्ब सा।
पेशोला की उर्मियाँ हैं शान्त,
घनी छाया में—
तट-तरु हैं चित्रित तरल चित्रसारी में।
झोपड़े खड़े हैं बने शिल्प से विषाद के,
दग्ध अवसाद से
कलिमा बिखरती है, संन्ध्या के कलक ...
दुंदुभी, मृदंग, तूर्य, शान्त, मौन स्तब्ध हैं।"

[लहर, पृ० ६२]

इससे भिन्न गुजरात के समुद्र तट का चित्र अप्रस्तुव रूप में कवि की तूलिका से अतीव सुघर उतरा है। "कमला" अपने यौवन की रागमयी सन्ध्या की, अपनी प्रमुदित अवस्था से तुलना कर रही है—

और उस दिन तो
निर्जन जलधि बेला रागमयी सन्ध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रङ्गरलियां।
दूरागत वंशी-रव गूंजता था धीवरों की छोटी छोटी नावों से।

मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में
रंध्र खोजती थी, रजनी की नीली किरणें
उसे उकसाने को हंसाने को ········।"

[लहर, पृ० ६५]

संवेदनात्मक चित्रण के लिए सामंजस्य और अनुपात की भावना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा प्राकृतिक दृश्य कवि की भावना से आच्छन्न होकर बिलकुल अपरिचित-सा प्रतीत होगा, कविता की कहानी बन जायगा। तारा पांडे की ये पंक्तियां उनके मनोभावों की ही सूचना देती हैं। चाहे इसे सब स्वीकार करें या न करें—

"नीरव नभ भी है रोता
रोने से ही अखिल विश्व में एक मात्र सुख होता।"

[सीकर, पृ० ५४]

अथवा पन्त की चांदनी—

जग के दुख दैन्य शयन पर, यह रुग्णा जीवन बाला—

सी चित्रित है। ऐसे अस्वाभाविक संकेत आधुनिक हिन्दी काव्य में बहुत कम हैं। साधारणतया संकेत बड़े रमणीय और अनूभूति-पूर्ण हैं। अतः यह तो मानना ही होगा कि यह प्रणाली प्राकृतिक क्षेत्र का, सन्देश मानवता तक पहुँचाने में सफल हुई है। और प्रकृति की इसी संवेदनशीलता के कारण कवि प्रकृति-सौन्दर्य और छवि का अनुगत हो उठता है।

'छबि की चपल उगंलियों से छू हृत्तंत्री के तार।
कौन आज यह मादक अस्फुट राग कर रहा है गुंजार॥"

और इसी संवेदन-प्रवणता के कारण सुन्दर और सरस के मनोरम कवि ने स्वयं आज के कवि की व्याख्या दे डाली है—

'आज शिशु के कवि को अनजान मिल गया अपना गान।

"खोल कलियों ने उर के द्वार,
दे दिया उसको छवि का देश।

"बजा-भौरों ने मधु के तार,
कह दिए भेद भरे सन्देश।"

कवि के मादक स्वप्न कहीं से खद्योतों के साथ उड़-उड़ कर आते हैं और उसे—

"इन्हीं में छिपा कहीं अनजान
मिला कवि को निज गान।"

इससे यह तो स्पष्ट ही है कि कवि को प्रकृति से सदा नित नवीन सन्देश और संकेत मिलते रहते हैं। प्रकृति संवेदनशील है और इसीलिए जब मनुष्य की अनुभूति गहनतर हो उठती है उस समय चारों ओर उसे अपनी अन्तर्दशा का प्रतिबिम्ब ही दृष्टिगत होता है। वहीं उसकी वृत्ति रम जाती है। रामकुमार जी प्रश्न कर ही बैठते हैं—

"क्या लिखते हो खींच खींच विद्युत की उज्वल रेखा,
मैंने तो नभ को केवल पृथ्वी पर रोते देखा।"

इतना ही नहीं, प्रकृति में भी मानव जीवन का सा ही व्यापार चलता रहता है। जैसे यहां एक का उत्थान और दूसरे का पतन होता है····जैसे किसी लुटती आशाओं पर क्रूर जगत् हँस देता है वैसे ही:—

'रजनी का सूनापन विलोक हँस पड़ा पूर्व में चपल प्रात
यह वैभव का उत्थान देख दिन का विनाश कर जगी रात।'

प्रकृति के इन स्वाभाविक व्यापारों में कवि अपने भावों की छाप लगा कर सरसता और समीपता का अनुभव करा देता है। इसी प्रकार मिलन की मधुमय वेला में—

'देख लो ऊंचे शिख पर व्योम चुम्बन व्यस्त,
लौटना अंतिम किरण का और होना अस्त।'

तदनन्तर सारी प्रकृति उसी अनुराग से अनुरंजित हो उठती है:—

"सृष्टि हँसने लगी आखों में खिला अनुराग।
राग रंजित चन्द्रिका थी उड़ा सुमन पराग॥"

प्रकृति के नाना अनुभूति-समन्वित जागरित रूपों को देख कर कवि की चेतना और ऊंची उठ गई। प्रकृति को सचेतन तो वह मानने ही लगा है किन्तु अब उसकी साकार उपासना की इच्छा प्रबल हो उठी और हृदय के समस्त प्यार को बटोर कर गा उठा:—

"खोलो मुख से घूँघट खोलो,
हे चिर अवगुंठनमयी बोलो।"

मानवीकरण

उसने प्रकृति का गुप्त रूप पहचान लिया है। उसकी प्रतिमा कवि हृदय में प्रतिष्ठित हो गई, उसका भी अपना साम्राज्य है, अपना गृह है, अपनी शय्या है। अपने आत्मीय हैं जिनमें सच्ची सुघर मानवी सी वह सु -दुख, आशा, निराशा, हास, रोदन राग-विराग, मधुरता और कटुता के धूपछाही ताने-बाने में अपना जीवनतन्तु बुनती चली जा रही है। कभी वह मुग्धासी अनजान सरल मुस्कान बिखेर देती है, कभी सलज्ज सुकुमार बधू-सी सकुचित हो उठती है, कभी उग्र भयंकर क्रान्ति का रूप धारण कर लेती हैं, कभी धीर प्रशान्त विरागिनी का। विभावरी बीत गई है, प्रातः काल होते ही जैसे गृह-वधूसी उषानागरी पनघट की ओर चढ़ चली है:—**अम्बर पनघट में डुबो** रही, तारा घट उषानागरी।' रात्रि अभिसार करने निकली थी। प्रातः काल जब उसकी अलसाई आकृति कवि ने देखी तो वह गा उठा:—

'कहता दिगन्त से मलय पवन, प्राची की लाज भरी चितवन
है रात घूम आई मधुवन——
यह आलस को अंगड़ाई है।"

इसी भाँति जल-प्लावन के उपरान्त प्रकृति पुनः अपने वास्तविक रूप में आ रही है। धीरे-धीरे दृष्टिगत होती हुई धारा मानवती बधू सी लग रही है——

"सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी थी
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किये सी ऐंठी थी।"

[कामायनी, पृ० २५]

मानवीकरण की यह भावना प्रसाद जी में अधिक मुखरित हो उठी है। उनके समस्त अमूर्त पदार्थ मूर्त रूप धारण करके आते हैं। लज्जा की मूर्ति सकुचाती, इठलाती चुपचाप चली आ रही है।

"वैसी ही माया में लिपटी, अधरों पर उंगुली धरे हुए,
माधव के सरस कुतूहल का आखों में पानी भरे हुए।"

कवि का चेतन सौन्दर्य के प्रति अधिक आकर्षण है। उसे गुलाब का कोमल प्रसून प्यारा लगता है किन्तु उसमें चेतना का अभाव उसे खटकता है। उसके क्षण भर के विकृत हो जाने पर उसे कष्ट होता है। इसीलिए उसे सौन्दर्य अधिक रुचिकर है—

'उज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं'

श्री महादेवी भी उस वसन्त-रजनी का आवाहन कर रही हैं, जिसके आगमन की कल्पनामात्र से सरिता का उर सिहर उठता है, सुमन सुधा से भर जाते हैं, अवनि पुलक से आकुल हो उठती है—

"धीरे धीरे उत्तर क्षितिज से आ वसन्त रजनी
तारकमय नव वेणी वन्धन,
शीश फूल कर शशि नूतन
रश्मि वलय सित नव अवगुंठन
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी।"

[नीरजा पृ० ३]

कवि की साहित्यिक दृष्टि के सन्मुख रजनी की साकार मूर्ति प्रतिष्ठापित हो गई है। अलंकारों से भूषित, अलस पदगति में नुपुरध्वनि में उलझी सी वह अवतरित हो रही है, उसके दुकूलों से सुरभित गन्ध वितरित हो हो रहा है—

"मर्मर की सुमधुर नूपुर ध्वनि,
अलि गुँजित पद्मों की किंकिणि,
लय पद गति मे अलस तरंगिणि।
तरल रजत की धार बहा दे मृदु स्मित से अपनी।"

(वही पृ० ३)

आकुल कवि-हृदय उत्पीड़नों और कष्टों से ऊब कर निशा में अभय-वरदा स्नेहमयी जननी सा रूप खोज लेता है। रात्रि का अन्धकार, ओस की बूंदें, सिहरा सा तन सहसा सद्य:स्नाता प्रेममयी नायिका के रूप में मूर्त हो उठता है। वह प्रश्न करता है—

"नभ गंगा की रजत धार में धो आई क्या इन्हें रात
कम्पित हैं तेरे सजल अंग, सिहरा सा तन है सद्यस्नात
भीगी अलकों के छोरों से
चूती बूंदें कर विविध लास।"

कवि चाहता है कि उन नील सघन केश पाश में उसके दुख विलीन हो जायँ और वह उन अलकों की सुरभित स्निग्धता में सब कुछ भूल जाय—

"इन स्निग्ध लटों से छा दे तन पुलकित अंगों में भर विशाल
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से अङ्कित कर इसका मृदुल भाल।
दुलरा देना बहला देना—
यह तेरा शिशु जग है उदास—"

कविवर दिनकर ने शिशिर को अपना जीर्णशीर्ण कलेवर समेटते जाते देखा। तन्द्रिल सी वासन्ती बाला का आगमन देखा। उन्हें प्रतीत हुआ जैसे शिशिर मधुमास की अधिष्ठात्री का उद्बोधन कर रही है—

"मैं शिशिरशीर्णा चली अब जाग ओ मधुमासवाली
है विकल उल्लास वसुधा के हृदय से फूटने को
प्रान्त अञ्चल ग्रन्थि से नव रश्मि चञ्चल छूटने को
भृङ्ग मधु पीने खड़े उद्यत अभी कर रिक्त प्याली
मैं .... वाली।"

[रेणुका, पृ० ४९]

दुग्ध-धवल चन्द्रिका कुछ शान्तभाव से बैठी सोचती सी आभासित हो रही :—

"नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिनी
मृदुल कर शशि मुख धर नीरव अनिमिष एकाकिनि।"

[गुञ्जन, पृ० ७९]

कविवर रामकुमार वर्मा ने दिशा के आनन्दन और अवसाद से भरे हुए मुख की ओर देखा है। संसार की विषमता से वह भी न बच सकी :-

"यह पूर्व दिशा जो थी प्रकाश की जननी छविमय प्रभापूर्ण,
निज मृत शिशु पर रख नमित माथ, बिखराती घन केशान्धकार
[चित्ररेखा पृ० २६]

आधुनिक काव्य में मानवीकरण की यह भावना वस्तुतः चेतनीकरण या मूर्त्तीकरण की प्रवृत्ति का ही एक अङ्ग है। अचेतन प्रकृति के व्यापारों में जब कवि चेतन की भावप्रेरित साभिप्राय चेष्टाओं का आरोप करता है तब उसे हम चेतनीकरण कह सकते हैं। और जब अमूर्त्त प्रकृति (जैसे उषा, सन्ध्या, दिशा आदि) को मूर्त्त मानकर उसके सौंदर्य का, अङ्ग-प्रत्यङ्ग का, उसकी चेष्टाओं का चित्र, अङ्कित किया जाता है तब उसे हम मूर्त्तीकरण कहते हैं। मानवीकरण में मूर्त्तीकरण और चेतनीकरण—आधुनिक कविता की दोनों विशेषताएँ कहीं पृथक्-पृथक्, कहीं एकत्र परिलक्षित होती हैं।

प्रसाद की उपर्युक्त 'उषा-नागरी', अथवा मादकता की अँगड़ाई से भरी अलसाई 'उषा' मानवीकरण का अतीव मनोहर उदाहरण है, उसमें चेतनीकरण और मूर्त्तीकरण–ये दोनों प्रवृत्तियाँ हैं। महादेवी वर्मा ने उषा को तारक-कुसुम चुननेवाली सलज्ज नवोढ़ा के रूपमें देखा है—

"मत अरुण घूँघट खोल री!
वृन्त बिन नभ में खिले जो,
अश्रु बरसाते हँसे जो
तरकों के वे सुमन
मत चयन कर अनमोल री।
"........ ....

"निशि गई मोती सजाकर,
हाट फूलों में लगा० कर,
लाज से गल जायँगे,
मत पूछ इनसे मोल री।

स्वर्ण-कुमकुम में बसा कर
है रँगी नव मेघ चूनर,
बिछल मत धुल जायगी
इन लहरियों में लोल री।"

[नीरजा, पृ० ९५-९६]

उक्त उद्धरण में, लाजवन्ती अरुण उषा, अम्बर के तारक सुमन, अकाश के हाट में रजनी-रूपी नायिका का मोती और फूलों को सजाना और नूतन रँगीन मेघलहरियों में बिछलते हुए, इठलाते, हुए, चंचलगतिशीला यौवन-मत्त उषा का चलना- मूर्त्तीकरण और मानवीकरण के सभी रूप और ललित चेष्टाएँ बड़ी ही चित्रात्मक और सहृदय-मनोहारिणी हैं।

महादेवीजी का वे प्रकृति-चित्रण, जहाँ रहस्यात्मक संकेत गूढ़ नही (जैसा कि ऊपर के उद्धरण में हैं) वरन् अधिक स्पष्ट हैं, वहाँ मूर्त्तीकरण और चेतनीकरण के चित्र अत्यंत भावपूर्ण हो उठे हैं। हिन्दी-काव्य में भावमय संकल्पात्मक रहस्यवाद का जो विशुद्ध और सरस चित्र, जिस व्यापक अनुभूति से संपन्न महादेवी वर्मा के गीतों और कविताओं में मिलता है, वैसा प्रचुररहस्यात्मक चित्रण दूसरे कवि की कविता में नहीं है। उनकी काव्यानुभूति को प्रेरणा ही प्रेममय रहस्यानुभूति है। अतएव प्रकृति के रहस्यात्मक संकेत, कुतूहल, चपलता और जिज्ञासोत्थापक चित्रों का अंकन इस रहस्यवादी कवयित्री ने बड़ा ही भवमय किया है। अज्ञात प्रियतम चितेरे द्वारा अंकित चित्र कितना मोहक है—

"कमल दल पर किरण अंकित
चित्र हूं मैं क्या चितेरे ?

बादलों की प्यालियाँ भर चाँदनी के सार से,
तूलिका कर इन्द्रधनु तुमने रंगा उर प्यारसे,
काल के लघु अश्रुसे धुल जायँगे क्या अंग मेरे।

तड़ित सुधि में, वेदना में करुण-पावस रात भी,
आँक स्वप्नों में दिया तुमने वसन्त-प्रभात भी,
क्या शिरीष-प्रसून से कुम्हलायँगे यह साज मेरे ?"
[नीरजा, पृ० ७५-७६]

कवयित्री के साथ प्रकृति की घनिष्ठ आत्मीयता अत्यन्त बढ़ गई है, विश्वास-भाजन प्रिय सखी की भाँति उल्लास-भरी नाचती प्रकृति जब कवि के निभृत भाव-जगत् में आ उपस्थित होती है तब उसकी चेष्टाएँ देखकर कलाकार पूछ बैठता है—अलि क्या वह अज्ञात अलक्ष्य प्रियतम आनेवाला है—

"मोती बिखराती नूपुर के छिप तारक-परियाँ नर्तन कर,
हिमकण पर आता-जाता मलयानिल परिमल से अंजलि भर,
भ्रान्त पथिक से फिर फिर आते
विस्मित पल क्षण मतवाले हैं
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?"
[महादेवी वर्मा]

आधुनिक काव्य-सौन्दर्य इस मूर्त्तीकरण और चेतनीकरण की भावना के कारण हमारे अधिक समीप आ गया है। कवि की ये अभिव्यक्तियां सूचित करती हैं कि मानों प्रकृतिके रमणीय दृश्य उसे केवल सजीव और साकार ही नहीं जान पड़ते वरन् वे अपने निकटबन्धु एवं परिजन से प्रतीत होते हैं। प्रकृति के प्रति कवि की यह आत्मीयता आज के युग की विशेषता है और आधुनिक युग के प्रतीकों में भी विस्तृत हो गया है। किन्तु प्रत्येक देश के प्रतीक उसकी परम्परा, इतिहास, जलवायु तथा जाति के आचरण से सम्बद्ध होते हैं। उष्ण देशों की भीषण उष्णता नरक की ज्वाला का प्रतीक बन गई, वसन्त तथा ग्रीष्म हर्ष और दुःख के द्योतक माने गए। इसी प्रकार उषा इन कवियों के लिए जीवन के आरम्भ स्फूर्ति और सुख का प्रतीक बन गई। सन्ध्या अवसान के एकान्त की प्रतिरूपिणी और अवसाद-सी भासित होती है। कमल, चन्द्र, प्रसून आदि पुराने ही प्रतीक हैं, जो नया बाना पहना कर अनेक रूपों में प्रयुक्त होते हैं—

"विस्मृति है मादकता है मूर्छनाभरी है मन में
कल्पना रही सपना था मुरली बजती निर्जन में,
कामना-सिन्धु लहराता छवि पूरनिमा थी छाई
रत्नाकर बनी चमकती मेरे शशि की परछाई।"

प्राकृतिक उपकरण किस प्रकार प्रतीक बनकर काव्य की रमणीयता बढ़ाते हैं, इसकी चर्चा आधुनिक काव्यधारा की प्रमुख विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए की जा चुकी है। यहां केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि आज के कवि की भावना प्रकृति की दृश्यावलियों में मानव जीवन की अनुभूतियों और परिस्थितियों का प्रतीकात्मक संकेत करती हुई, उसके सहृदयता का मधुर संगीत सुनाती जान पड़ती है।

सराश यह कि आज प्रकृति कवि-जीवन और अनुभूतियों के इतने निकट और घनिष्ठ सम्पर्क में आ गई है कि एक प्रकार से कवि-हृदय का उसके साथ तादात्म्य हो गया है। वह कवि के सुख - दुख से प्रभावित होती है और सदा-सहचरी प्रकृति अपनी जीवन-गाथा उसे सुनाती है। वे दोनों सुखःदुख के साथी हैं और एक दूसरे के प्रति संवेदनशील भी। यही है आज के युग की विशेषता और यहीं दिखाई पड़ती है सच्चे स्वच्छन्द भावुक हृदय की मुक्ति।

पंचम उन्मेष

आधुनिक कविता में नारी सौन्दर्य

काव्य में नारी का स्थान

प्रभात कालीन वासन्ती वायु के सरस परस की भांति उल्लास से भर देने वाली, श्रान्त, क्लान्त जीवन पर ममता की वारिधारा बन कर बरस उठने वाली, प्रेम की परिपूत प्रतिमा, चिर आकर्षणमयी नारी आज के सुकुमार कवियों की तूलिका से रंग पाकर पुनः निखर उठी है। वैदिक युग की विदुषी, संस्कृत कवियों की कांचन-कमलिनी तन्वंगी, तुलसी की सौम्या किन्तु 'सहज अपावनि', रीति कालीन कवियों की हास-विलासमयी सुकुमारी कठपुतली, सभी आधुनिक युग में आकर केवल उसी एक नारी का प्रतिनिधित्व कर रही हैं जिसका जीवन रह गया है:—

> **अबला-जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी,**
> **अंचल में है दूध और आखों में पानी।**

विभिन्न युगों के काव्य-सौन्दर्य का सिंहावलोकन करते हुए सौन्दर्य-भावना पर कुछ विचार करने की चेष्टा की गई है। उस संक्षिप्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि वाल्मीकि के समय में जहां प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण और मानव-स्वभाव के उदात्त स्वरूप के वर्णन में प्रवृत्ति अधिक सक्रिय दिखाई देती है, वहां कालिदास में भावुकता सर्वत्र प्रवाहित होती जान पड़ती है। किन्तु उसके बाद संस्कृत के कवियों में प्रकृति की ओर प्राय: उपेक्षा की दृष्टि बरती गई। बाणभट्ट, भवभूति जैसे इने-गिने कुछ कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों के काव्यों में मानव-बाह्य-सौन्दर्य की ओर भावना रमी सी प्रतीत होती है। नखशिख-वर्णन, नायिकाओं के हावभाव का वर्णन में एवं प्रेम की विभिन्न परिस्थितियों की अनुभूतियों के जितने विशद और सूक्ष्म वर्णन में शक्ति का अपव्यय हुआ है उतना प्रकृति के रमणीय

चित्रों के अंकन में नहीं। विशेषतः रीतिकाल के आचार्य-कलाकारों ने जीवन और जगत् के विशाल क्षेत्र को छोड़ कर शृंगार के संयोग और वियोग, आलम्बन और उद्दीपन, अनुभाव और संचारी भाव आदि का विवेचन ही अपनी काव्य-रचना और शास्त्र-व्याख्या का उद्देश्य मान लिया था।

आधुनिक कवि की दृष्टि में नारी

आधुनिक कवियों ने प्रकृति और मानव की कोमल भावनाओं को ही नहीं वरन् प्रकृति के विशाल और व्यक्त सौन्दर्य तथा रहस्य पुरुष के अव्यक्त सौन्दर्य को व्यक्त करने में भी नारी का सहारा लिया है। आज की नारी न तो "शैतान का दरवाजा" है[1] न समस्त पापों का मूल कारण, न तो वह पति की क्रीतदासी है[2] जो पशु के सदृश पूर्णतया अपने स्वामी की ही कृपा-कोर से जीती है और न समस्त सम्पत्ति दे देने पर भी नगण्य बनी रहने योग्य[3]। आज के कवि ने उसके सहज स्वभाव पर प्राणपण से श्रद्धांजलि समर्पित की है। वह स्वयं अपना स्वत्व रखती है, वह लड़ कर अथवा किसी का कुछ लेकर जीना नहीं चाहती और तब उसके सहज समर्पण को, उसके अतुलित अनुराग को उसका दासीत्व क्यों कहा जायः—

अधिकारों के दुरुपयोग का कौन कहां अधिकारी,
कुछ भी स्वत्व नहीं रखती है अर्धांगिनी तुम्हारी।

[द्वापर, पृ० २३]

वह तो स्वयं कोई अधिकार नहीं चाहती:—

1—"Thou art the Devils gate, the betrayer of the Irce, the first deserter of the divinelaw".

2—The woman is her husdands ox or as akation said once— A katir who kills hi wife can defend heuisey by saying "I have vorsht her once ferall',

3—"She was not a person".

"इस अर्पण में कुछ और नहीं,
केवल उत्सर्ग छलकता है
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
इतना ही सरल झलकता है।"
[कामयानी, पृ० ११३]

उसके इस उदार दान को, इस त्यागमय रूप को चाहे और कोई न समझे किन्तु आज का कवि-हृदय, उस ठुकराई हुई दीन प्रतिमा पर नित्य-प्रति भावों के अभिनव सुन्दर सुमन चढ़ा आता है। तुच्छ बुद्धि उसे कुछ भी कहे किन्तु मैथिली शरण जी अवश्य दुखी हो उठते हैं:—

'उपजा किन्तु अविश्वासी नर हाय तुझी से नारी,
जाया होकर जननी भी है तू ही पाप-पिटारी।"
[द्वापर, पृ० ३१]

नारी का आदर्श रूप

प्रसाद की कामायनी नारी का चिर ममतामय रूप है, उसका निर्माण ही अनन्त स्नेह, निश्छल सहृदयता और स्वाभाविक कोमलता से हुआ है। ममता, माया और क्षमा उसकी अमोघ शक्ति है। वह विराट् और कोमल की मिलित मुस्कान है और जीवन की वह मन्दाकिनी है जो प्यास और मलिनता, दोनों का शमन करती है। नारी, दर्शन और सौन्दर्य का सुन्दर समन्वय है। प्रेम और वात्सल्य, दोनों उसके हृदय-सरिता के दो कूल हैं। कहना नहीं होगा कि यह प्रेम का आदान-प्रदान आदि युग से चला आ रहा है। किन्तु पुरुष के स्वार्थ और नारी के त्याग की सहज भावना काव्य का विषय आज ही बन सकी है—

क्या समर्पण आज का है देव
बनेगा चिर बंध नारी हृदय-हेतु सदैव।

असुर तक उसकी दीप्ति से डरते हैं। उन्हें भी—

'एक मृदुलता की ममता की
छाया रहती हँस के।'

यह छाया उसके चारों ओर दिखाई पड़ती है और इसीलिए प्रसाद जी कह उठते हैं—

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पग तल में ।
पीयूषस्रोत सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में ।'

[कामायानी, पृ० ११४]

वास्तव में श्रद्धा ही नारीत्व का पूर्ण विकास है। सौन्दर्य की बोधगम्यता, स्नेह की सहजता और साधना की साहसिकता का श्रद्धा में इतना समुचित सामंजस्य है कि मंगल-कामना तथा शान्ति की भावना उसकी सहज सहचरी बन गई है। नारी का जीवन ही करुणा की एक करुण कहानी है। नारीरूप में जन्म लेते ही उसने समस्त सुखों का बलिदान कर दिया था—

'क्या कहती हो ठहरो नारी,
संकल्प अश्रु जल से अपने ।
तुम दान कर चुकी पहले ही,
जीवन के सोने से सपने ।'

[कामायनी, पृ० ११४]

आधुनिक कविता में नारीकी प्रमुखता

आज कविता का प्रमुख उपादान नारी है। आधुनिक कवियों के संमुख वह कामना-तृप्ति का साधनमात्र नहीं है वरन् उसका चित्रण उदात्त भावनाओं की प्रेरिका के स्वरूप में हो रहा है। पन्त को नारी के रोम-रोम से प्यार है। वह केवल "घने लहराते रेशम के बाल" पर नहीं रीझे हैं, उनके लिए तो—

'तुम्हारे गुण है मेरे गान
मृदुल दुर्बलता ध्यान

तुम्हारी पावनता अभिमान,
शक्ति पूजन सम्मान
अकेली सुन्दरता कल्याणि,
सकल ऐश्वर्यों की संधान।
तुम्हारी सेवा में अनजान,
हृदय मेरा है अन्तर्धान।
देवी, मां, सहचरि प्राण।"

[पन्त-पल्लव, पृ० ८१]

आधुनिक कवि केवल रूप-मदिरा की ज्वाला से उत्पन्न नहीं है, वह नारी के बाह्य और आन्तरिक, दोनों सौन्दर्यों के प्रति जागरूक है। उसकी दृष्टि शृंगारी कवियों के समान एकांगी नहीं है। एक ओर यदि वह परम्परागत वर्णन के अनुसार कह सकता है —

'तुम्हारे चलपद चूम निहाल मंजरित अरुण अशोक सकाल.
स्पर्श से रोम-रोम तत्काल, सतत सिंचित प्रियंगु की बाल।'

[गुञ्जन, पृ० ४९]

तो दूसरी ओर वह अपनी पावन प्रेयसी के पवित्र स्पर्श में अलौकिक मधुरिमा और पावनता का आभास भी पा सकता है—

"तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगास्नान।
तुम्हारी वाणी में कल्याणि, त्रिवेणी की लहरों का गान।"

[पल्लव, पृ० २७]

वह नारी को मानव-ममता की अजस्र पियूषधारा समझता है। अतः सुधा की जो धारा समस्त मानवता को अपने रक्तमांस से परिपुष्ट करती है, जो नारी अपने स्तन्य की अजस्र धारा से मानव में प्राण का अभिषेक करती है, उसकी दुर्बलताओं को वह सहानुभूति के साथ देखता है। अतः आज के कवि को वेश्या से घृणा नहीं है, वरन् नारी होने के नाते उस पर भी प्यार है, करुणा है, दया है—

"तू लक्ष्मी है तू देवी है,
तू नारी पावन—
दे समाज को चांदी का तन,
रखती है जीवन ।"

[प्रभातफेरी, पृ० ९९]

प्रताड़िता के निराश जीवन में कोई आह्लाद नहीं है, केवल कृत्रिमा का ढोंग है जिसमें लिपटी वह जीवन बिता रही है। इतना ही नहीं, वह नैराश्य के गहन तिमिर में दीप्त दीपिका है, नारी है, उसमें दुख निबारण कर देने की अद्भुत क्षमता है। कवि के निराश शुष्क जीवन में सरसता का स्रोत नहीं है, उसकी सुकुमारी प्रेयसी नैराश्य के घोर तम में आशा की मृदुल उज्वल रेखा खींच जाती है, उसमें विश्वकी सुषमा का संसार निहित है—

"भरे हुए सूनेपन में, तन में विद्युत् की रेखा सी,
असफलता के तट पर अंकित तुम आशा की लेखा सी,
आज हृदय में खिंच आई हो तुम असीम उन्माद लिए,
जब कि मिट रहा था मैं तिल-तिल सीमा का अपवाद लिये ।"

[प्रेम-संगीत, पृ० १८]

वह पुरुष के जीवन में स्फूर्ति भर देती है—

"शत शत मधु के शत-शत सपनों की पुलकित परछाईं सी
मलय-विचुम्बित तुम उषा की अनुरंजित अरुणाई सी।"

'तुम दुबली पतली दीपक की लौ सी सुन्दर" में साकार हो उठे है। तभी कवि उसका आवाहन कितने उत्साह से कर रहा है—

"तुम स्वर्गंगा में गंगाधर उतरो प्रिय सिर आखों पर ।"

[प्रेम-संगी, पृ० ९]

जीवन, आह्लाद और सुख केवल उसकी ममता के दूसरे स्वरूप हैं।

"तुम क्रीड़ा की उत्सुकता सी, तुम रति की तन्मयता सी
मेरे जीवन में तुम आओ, तुम जीवन की ममता सी ।"

[प्रेम संगीत, पृ० १९]

इन्हीं सब उद्गारों को लिए कवि विश्वास से कह उठता है—
"तुम कल्याणी हो, शक्ति बनो, तोड़ो भव का भ्रमजाल यहां।
बस बहना है बह चलो अरे है व्यर्थ पूछना किधर कहां।"
[वही]

नारी-भाव की व्यापकता

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, नारी पुरुष की भोगतृष्णा की शान्तिमात्र का साधन नहीं है बरन् रूप, शील और सन्दर्य से पुष्ट है, उसमें शोभा की शान्ति है, ममता की गत्वरता है, त्याग की उदारता है। वह अपने दुखों और कष्टों को व्यक्त करने के लिए मूक है। वह न तो विरह में आग सी हो जाती है, जिसमें सखियों को पास आने में जल जाने का भय हो, न विरहाग्नि से उसकी देह ऐसी हो जाती है कि शय्या पर दिखाई ही न पड़े। उसकी दशा ता आज वृन्त से च्युत, मकरन्द-रहित पुष्प सी हो जाती है। मनु के चले जाने पर श्रद्धा की कातरता कितनी मूक एवं प्रभावशील है—

'कामायनी-कुसुम वसुधा पर पड़ी न वह मकरन्द रहा,
एक चित्र बस रेखाओं का अब उसमें है रंग कहां
वह प्रभात का हीन-कला किरन कहां चाँदनी रही,
वह सन्ध्या थी रवि, शशि तारा ये सब कोई नहीं जहा।'
[कामायनी, पृ० १३७]

आधुनिक कवियों की नारी, प्रेम की जीती-जागती पावन सौन्दर्य प्रतिमा है।

नारी के स्नेह दया, और त्यागमय रूपों का किंचित् विवेचन तो हुआ। किन्तु उसका व्यापक रूप, इतने में न तो परिमित किया जा सकता है, न आधुनिक कवियों को इससे सन्तोष ही हो सका है। उसका सौन्दर्य कहीं अधिक व्यापक और उन्नत है। वह अलौकिक प्रेम की प्रतिमा है, उस मार्ग की प्रदर्शिका है। जायसी की पद्मावती जैसे सिद्धि का स्वरूप है उसी प्रकार आधुनिक युग में भी प्रेम का व्यापक स्वरूप अप-

नाया गया है । प्रकृति के विस्तृत दर्पण में भी प्रेम का व्यापक स्वरूप अप-नाया गया है । प्रकृति के विस्तृत दर्पण में उसकी छवि प्रतिबिम्बत हो रही है और उसी के प्रभाव से कवि में जीवन और उत्साह का नवीन आनन्द भर जाता है—

'मुसकुरा दी थी क्या तुम प्राण, मुस्करा दी थी आज विहान
आज गृह, बन, उपवन के पास, लोटता राशि राशि हिमहास ।'
[गुञ्जन, पृ० ३८]

कवि की पार्थिव प्रेयसी सहसा अपार्थिव हो उठी है । उसकी प्रेम-अनुरंजित आत्मा सृष्टि में कण-कण में विश्वसुन्दरी की झलक देख रही है । वह तो पहले से ही प्रार्थना कर रहा है—

'विश्वकामिनी की पावन छवि
मुझे दिखाओ करुणावान ।'

ज्यों ही उसकी यह इच्छा पूर्ण हो गई, अब उसे "विश्वरानी, सुन्दरी ...री जगत् की मान" का रूप दृष्टि गत हो रहा है—

"तुम्हारा पी मुख-वास तरंग आज बौरे भौंरे सहकार ।
चुनाती निज लवंग नित अंग, तन्वि तुमसी बनने को सुकुमार
कपोलों की पी मदिरा प्राण, आज पाटल गुलाब के जाल ।"
[गुंजन, पृ० ४९]

ऐसी ही प्रेयसी की प्रतीक्षा में—

"तुम आओगी, आशा में अपलक हैं निशि के उडुगण ।
आओगी, अभिलाषा से चंचल चिर नव जीवन क्षण ।"

उसकी चामीकर दीप्ति से—

"बादल सा हट जाता है, सब आसमान खुल जाता है ।
खिल जाती है पल में प्रसून सी नरम धूप ।"
[पलाशवन, पृ० ३]

नरेन्द्र जी भी प्रेयसी की सरल भोली चितवन को, सलज्ज मुस्कान को, उस सोने के रंग सी उजली, सरसों के फूलों सी हलकी, प्रतनु, आकर्षिणी का प्रभाव प्रकृति में पा कर फूल उठे हैं: —

"उठती जब नमित चकित चितवन, विपुल सलज्ज खिल छिप जाती,
पाटल की लाल पंखुरियों सी वह अरुण उषा शरमा जाती।
मधु-अधरों पर संकोच हिचक की तरल रेख है खिंची एक,
हिलती ज्यों जल में लहर-लहर जब स्मिति उन अधरों पर आती।"

[वही, पृ० १]

प्रेयसी पत्नी के रूप में

इन नित नवीन परिवर्तनों को देखते-देखते अब कवि की उत्कण्ठा, कौतूहल और जिज्ञासा शान्त हो गई है, वह जान गया है कि यह उसकी प्रेयसी की ही झिलमिलाती ज्योति है—

'अब तक क्यों न समझ पाया मैं
थी किसकी जग में छवि छाया
मुझे आज भावी पत्नी का
मधुर ध्यान क्षण भर को आया।'

[प्रभातफेरी, पृ० ३९]

कवि अपनी प्रेयसी के लिए आकुल है, विह्वल है और पीड़ित है। उसका सभी कुछ तो उस प्रेयसी में, उसमें समा गया है, जीवन से वह इतनी घुलमिल गई कि विच्छेद की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह स्वतः उसमें लीन है। कभी उसका प्रणय आकुल होकर प्रतिदान के लिए क्रन्दन कर उठता है, उसकी वाणी भर आती है और तभी वह कह देता है—

"होठों पर हो मुसकान तनिक नयनों में कुछ कुछ पानी हो,
फिर धीरे से इतना कह दो, तुम मेरी ही दिवानी हो।"

किन्तु दूसरे ही क्षणः—

"तुममें लय होने को उत्सुक अभिलाषा उर में ठहरी है,
बोलो ना मेरे गायन की तुम में ही तो स्वरलहरी है।"

शनैः शनैः प्रतिदान की भावना लुप्त होती जाती है। प्रतिदान कैसा, तन्मयता इतना अवकाश ही न देगी कि "स्व" से परे कल्पना करने की आवश्यकता पड़ सके। कवि को आनन्द और आह्लाद की श्री और शुचिता, प्रेयसी के अंग–प्रत्यंग में झलकती दिखाई पड़ रही है—

"उड़ता है जब प्राण, तुम्हारी सारी का सित छोर
सौ वसन्त सौ मलय हृदय को करते गंध-विभोर।"

[पल्लविनी, पृ० १९९]

विश्व का व्यापक स्वरूप नारी के छोटे से स्वरूप में साकार हो उठा है। उस मृदुल कलिका में वसन्तश्री समाहित है, धरा पर वह मूर्तिमान् स्वर्ग है —

"बिन्दु में थी तुम सिन्धु अनन्त, एक स्वर मे समस्त संगीत
एक कलिका में अखिल वसन्त धरा में थी तुम स्वर्ग पुनीत।"

ऐसी मोहमयी प्रिया को पाकर वह समस्त सुखों को नगण्य समझता रहा, आत्म बिभोर था ही किन्तु सहसा जब उसका स्वर्णिम स्वप्न बिखर गया, उसका संसार उजड़ गया, उसका जीवन जर्जर हो गया···

"मूँद पलकों में प्रिया के ध्यान को
थाम ले अब हृदय इस आह्लाद को
त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नहीं
प्रेयसी के शून्य पावन स्थान को"

[पल्लविनी, पृ० १६२]

अन्तःसौंदर्य की प्रभाव-व्याप्ति

इन पंक्तियों में आधुनिक युग की नारी-भावना मुखर हो उठी है। प्रेयसी के समक्ष त्रिभुवन की श्री फीकी है, उसकी पावन प्रतिमा के सन्मुख भगवान भी नहीं ठहर पाया। यहां ही प्रेम का भावात्मक चित्र

निखरा है। आज की कविता में औचित्य, सौम्यता, संयम–सबने प्रेम की अन्तर्वृत्ति-निरूपिणी शैली को जन्म दिया है। इन कविताओं के परिणाम स्वरूप नारी अधिक श्रद्धा का पात्र हो गई है। नित्यप्रति कोमल और उदात्त भावनाओं से अनुरंजित नारी-मूर्ति के विषय में सुनते-सुनते अब प्रकृति ही उस ओर हो गई है। पर आज का कवि, जहां एक ओर नारी के अन्तः-सौन्दर्य और उसकी स्नेहमयी, ममतामयी, मृदुल-वृत्ति की धवल छवि पर अपने कोमल भावों को निछावर करता नहीं समाता वहीं दूसरी ओर वह नारी के बाह्य-सौन्दर्य की मोहिनी के प्रभाव की अनुभूति को विस्मृत नहीं कर सका है। उसकी बाह्य रूपरेखा उसके सौन्दर्य-वर्धन में सदा सहायक हुई है। जिस प्रकार नारी में अन्य गुणों का आरोप उसकी प्रतिभा को पूर्ण करने में समर्थ हुआ है उसी प्रकार उसकी मृदुल कोमल अंगलतिका, उसके कुंचित घन केश, आयत नेत्र, खिंची हुई भृकुटि आदि भी आवश्यक उपकरण हैं। रीतिकालीन कवियों को नारी का बाह्य रूप अधिक भाया था, या यों कह सकते हैं कि वे नारी की बाह्य-सुषमा के इन्द्रजाल में फँस कर इस प्रकार बन्दी हो गए कि कोमल-कान्त कलेवर के भीतर छिपी हुई छवि-दीप्ति की रमणीय अनुभूति से वंचित रह गए। इन्द्रियज प्रत्यक्षानुभूति के आधार पर स्थित उद्दाम-प्रेम, विरह-मिलन की आँख मिचौनी में ही उन्होंने नारी को या अपने मन को भुला रक्खा है। वहां वह केवल रमण करनेवाली वस्तु है। किन्तु आधुनिक कवि की दृष्टि भिन्न है। उसकी चेतना नारी के बाह्य सौन्दर्य के साथ बौद्धिक गम्भीरता का भी समावेश करती है।

बाह्य सौंदर्य की उपेक्षा नहीं

इसका वह आशय कदापि नहीं कि आज का कवि नारी के बाह्य रूप की उपेक्षा कर सका है, वह उसे अब भी उसी रूप में जानता और मानता है, आज भी वह इस जग को, इस बिखरी हुई प्रकृति को, भूल कर उसके केशपाश में नेत्र उलझा देने को चंचल है। वह आज पहले से भी अधिक रूपलोभी हो गया है, पर संयत रूप में—

"तज कर तरल तरंगों को
इन्द्रधनुष के रंगों को
तेरे भ्रूभङ्गों से कैसे विधवा दूं निज मृग सा मन,
भूल अभी से इस को"

[पल्लिविनी, पृ० ६४]

"वह रूप की खान है, रूप की मोहक खान," किन्तु उस, रूप में पूत आभा झलक रही है। इसी से उस स्निग्ध सौन्दर्य में "सुरसरि की पवित्रता है"। कवि नारी का सौन्दर्य वन जाने के लिए मचल उठा है—

'मेरा वश चलता मैं
बन जाता सौन्दर्य तुन्हारा
जब तुम सिहर लजाती बनता मैं कानों की लाली
शरद समीरण में बनता मैं पुलकों की घनजाली
मैं न छलकने देता मुसकानों की गोरी प्याली।"

(लालचूनर, पृ० ७)

पर उसका रूप केवल रूप-सुधा का पान करने के लिए नहीं है नहीं वरन् अपनी शक्ति से उत्साह भर कर सघर्षों से लड़ने की क्षमता भी उत्पन्न करने की उसमें योग्यता है। इसी से एक क्षण बाद ही जीवन के संघर्षों, विफल प्रयासों और अतृप्त उच्चाकांक्षाओं में सहायक बनने के लिए वह नारी का आवाहन भी कर रहा है—

'आज जीवन और मरण के बीच की तुम सेतु बनकर,
दो मुझे तूफान अगले झेलने का शौर्य जयकर।'

इतना ही नहीं जिस कामिनी का रूप-वर्णन करते उसकी लेखनी नहीं थकती, जो दीपक की लौ-सी सुन्दर है भूमरों सी मत्त है, नुपुरों सी मुखर है—

"तुम दिया की जोत सी तुम तो झमकते झूमरों सी
अप्सरा के रूप सी तुम तो किरण के नूपुरों सी।"

[लालचूनर, पृ० २३]

वही इतनी दृढ़ और अचल भी हो सकती है कि—

"रूप बिम्बित हो इन्हीं संग्राम लपटों से तुम्हारा
मृत्यु की झाँई न निष्प्रभ कर सके तब मधु तुम्हारा।"

[वही, पृ० ३९]

खोए हुए श्रान्त, क्लान्त, मनु को भी श्रद्धा की "अनुकृति बाह्य उदार" आकर्षित कर लेती है:—

'नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।'

'घिर रहे थे घुँघराले बाल, अंस अवलम्बित मुख के पास।
नील घन शावक से सुकुमार, सुधा भरने को विधु के पास।'

[कामायनी, पृ० ४१]

नारी का सौम्य सौंदर्य

वर्तमान युग में प्रेम को अतीव परिष्कृत रूप में अपनाया है। आधुनिक कविता के प्रेमी का प्रणय अश्लीलता से परे है उसमें सुरूचिपूर्ण सौन्दर्य अधिक निखरा जान पड़ता है। प्रथम प्रेम का, यौवन प्रभाव, कामिनी की सलज्ज प्रभा मे मिल-जुल कर, चल रहा है—

"झुकी जाती पलकें सुकुमार कौन से नव रहस्य के भार,
सजनि! वे पद सुकुमार तरंगोंसे द्रुत पद सुकुमार,
सीखते क्यों चंचल गति भूल भरे मेघों की धीमी चाल।"

[रश्मि, पृ० ९९]

प्रसाद जी के लजीले यौवन का चित्र मुस्करा कर स्वयं बोल उठता है—

"हे लाज भरे सौन्दर्य बता मौन बने रहते हो क्यों?
अधरों मधुर कगारों में कल कल ध्वनि की गुंजरों में
मधुसरिता सी यह तरल हँसी अपनी पीते रहते हो क्यों?"

[चन्द्रगुप्त, पृ० ११]

नारी की सलज्ज मुस्कान, उसकी कातर सिहरन, सभी का चित्रण कवि करसका है, किन्तु सर्वत्र एक पवित्र माद कता है, सरलता की स्फूर्ति है। मनु का सुस्पर्श प्राप्त कर श्रद्धा-सी उन्मुक्त विचरण करनेवाली बाला भी सिहर उठी थी:—

"गिर रही पलकें झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रू लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदंबसा था भरा गद्गद् बोल।"

[कामायनी]

आधुनिक युग के कवियों की दृष्टि वयःसन्धि, सात्विक भाव, यौवन के कौतूहल, नयनों की बंकिमा आदि की ओर निपुणता से पहुँची किन्तु इतने ही तक परिमित नहीं रही। "कान तक खिचे अजान नयन"—जिसके नेत्र की विशालता नाप जाते हैं वह मुग्धा भी है। वह कई बार मृगशावक की आखों पर अपनी आखें रख कर नाप चुकी है और अन्त में गौरव से सिहर उठी है—

"जिसकी आखों पर निज आखें रख विशालता नापी है।
विजय-गर्व से पुलकित होकर मन ही मन फिर काँपी है।"

[नूरजहां, पृ० ३]

रीति कालीन काव्यनारी से अन्तर

आधुनिक नारी का सौन्दर्य रीतिकाल की नारी के प्रतिपक्ष में रखने से स्वतः निखर उठता है। परम्परागत वर्णन के लिए वयःसन्धि को साकार करने वाली निम्नलिखित कविता पूर्ण है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि विद्यापति आदि कवियों का अज्ञात प्रभाव आज के अनेक वर्णनों पर पड़ ही गया है। 'नयन क पथ दुहु लोचन लेल' आदि वर्णन इस युग में भी उपलब्ध हैं किन्तु साथ ही आज की कविता के चित्राङ्कन में प्रायः भावों की, पर साथ ही शिष्टता-संयत उद्गारकी झंकृति स्पष्ट प्रतीत होती है:—

जब शैशव शिशिर सिधारा यौवन बसन्त तब फूला,
कुछ नई साध अंचल में छिप छिप के झूली, झूला।
फिर वर बसन्त ने उसका सोलह श्रृंगार सजाया,
बालापन थक कर सोया यौवन ने शीश उठाया।
बालों में श्याम घटायें कानों में बिजली चमकी,
है शोभा अजब निराली शैशव यौवन संगम की।
गालों पर ऊषा आ आ लज्जा से छिप छिप जाती,
बालापन रूठ चला है नहिं आता है बहुत बुलाती।

[नूरजहां, पृ० ४५]

इतना ही नही जायसी के—

''जबहिं फिराहीं गगन गहि बोरा, अस है भौर चक्र के जोरा।
बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जानु दुई अनी॥
जुरी राम रावन के सेना। बीच समुद्र भए दुई नैना॥''

[जायसी-ग्रंथावली पृ० ४९]

काव्य से अधिक भावपूर्ण शब्दों एवं उद्गारों में सौन्दर्य-वर्णन किया गया है—

''दो शिखर श्रृंग है खड़े हुए मैदान आज है भरा हुआ,
है मार मार की धूम, उठा जीवित हो जो था मरा हुआ।
दो मीन केतु हैं फहराते दोनों दल मिलते जाते हैं,
सैनिक आखों में अंजन दे आयुध पर सान चढ़ाते हैं।
इन दृग रसाल में काम छिपा किस पर है बाण चलाने को,
होगा त्र्यम्बक से अनंग, जाता दृग चार लड़ाने को।''

[नूरजहां, पृ० ४९]

स्थूल वर्णन में भी अनुभूति की प्रमुखता

अछूते सौन्दर्य का वर्णन करने में भी आज के कवि ने तत्परता दिखाई है।

एक ओर यदि जायसी कह सकते हैं—

"अस कै अधर अमी भरि राखे ।
अबहिं अछूत न काहू चाखे ॥"

[जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ५०]

तो दूसरी ओर गुरुभक्त सिंह भी कह सकते हैं—

"यह मुकुल अभी ही खिल कर मख खोल आवाक् हुआ है,
है अभी अछूता दामन मधुपों ने नहीं छुआ ।
होठों से नहीं लगे है कोरे हैं अधर सकोरे,
है मन्द प्रात मलयानिल उठते है नहीं झकोरे ।"

[नूरजहाँ, पृ० ४५]

कवि के सुकोमल भावों को उद्दीप्त करने के लिए, मधुकरी सा आनन्द भरने के लिए उसके सन्मुख वह प्रेयसी—

"घन में सुन्दर बिजली सी
बिजली में चपल चमक सी,
आखों में काली पुतली
पुतली में श्याम झलक सी"

[आंसू, पृ० १५]

आ पहुँची है । उसके नेत्रों की काली अंजनरेखा, कोमल कपोलपाली में स्मिति की सीधीसादी रेखा, कवि के हृदय में गहरी रेखा बना जाती है, वह उसी मद में विभोर होकर गा उठता है—

"अंकित कर क्षितिजपटी को,
तूलिका बरौनी तेरी ।
कितने घायल हृदयों की,
बन जाती चतुर चितेरी ।"

[आंसू, पृ० १८]

आधुनिक कविता में नारी की अनुभावात्मक चेष्टाओं आदि का वर्णन भी छूटने नहीं पाया है । मिलन-सुख की मादकता को, साहचर्य की मधुरता ।

को, वह भी नहीं भूल सका है। इन्हें वह याद ही नहीं करता वरन् उसने पिछले कवियों से अधिक महत्व दिया है। उस सहज समर्पण की सुधि अब भी उसे विह्वल बना जाती है—

'तुम मुग्धा थी अति भावप्रवण……
चंचल प्रगल्भ हँसमुख उदार,
तुमने अधरों पर धरे अधर
मैंने कोमल बपु भरा गोद,
मिल गए सहज मारुतामोद……'

[पल्लविनी]

आज के कवि को भी 'परिरम्भ कुम्भ की मदिरा' ने, 'निश्वास-मलय के झोंको, ने उन्मत्त बना रखा है और तभी—

'थक जाती थी सुख-रजनी,
मुखचन्द्र हृदय में होता।
श्रमसीकर सदृश नखत से,
अम्बर पट भींगा होता।"

[आंसू, पृ० २३]

इन उपर्युक्त वर्णनों से आधुनिक युग की अभिव्यंजन-प्रणाली और नारी-सौन्दर्य में रमने वाली प्रवृत्ति पर कुछ प्रकाश पड़ जाता है। आधुनिक कवि पर नारी के बाह्य और आन्तरिक—दोनो सौन्दर्यों का प्रभाव पड़ा है। जिस समय उसकी भावना संयम की जंजीरों को तोड़ फेकना चाहती है उस समय वर्णन अधिक मुखर और स्पष्ट हो उठता है। अन्यथा, गंभीर सरिता के सदृश आन्तरिक गहराई को प्रकाशित करता बढ़ा चलता है। कमनीयता का रूप अति उदार और विशाल है, उसके समक्ष लावण्य का पुंजीभूत शैल भी लघु है—

'लावण्य शैल राई सा
जिस पर वारी बलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी प्यारी।"

[आंसू]

नारी का आदर्शोन्मुख रूप

कहना नहीं होगा कि आधुनिक युग ने नारी के आदर्श रूप की ओर अधिक ध्यान दिया है। रूप-वर्णन की चर्चा के साथ-साथ युग की एक और विशेषता की ओर ध्यान देना आवश्यक है और वह है सफल शील-चित्रण की कुशलता। सीता, शकुन्तला, दयमन्ती आदि, जो मध्यकाल में वासना के कालुष्यमय आवरण से ढँक गई थीं, आज की कविता में पुनः साकार हो उठी हैं। आज के कवि ने नारी में सुन्दर, सलज्ज, सुशील सहचरी की छवि देखी है। उसने नववधू, पत्नी, मां, देवदासी, भिखारिणी, वारांगना, उपेक्षिता, त्यागमयी आदि रूपों में भी नारी को देखा है। उसके उन रूपों पर वह रीझा है, बलिदान हो गया है। नारी के बलिदानों का महत्व, उसकी अबला से प्रबला बन कर दुष्ट के संमुख अडिग खड़े रहने का सहस, अब उसकी समझ में आ रहा है। अतः नारी की सौन्दर्य-भावना केवल शृंगारी सौन्दर्यानुभूति न रह कर मानवता की एक परम महत्वपूर्ण विभूति हो उठी है। अतः आधुनिक कवि की नारी-भावना कहीं-कहीं आदर्श-भावना से अभिषिक्त हो उठी है। उसका नारी-चित्रांकन आदर्श चित्रांकन हो गया है। नारी के दुख और क्लेशों का प्रतिनिधित्व करने वाले कवि गोपाल शरण सिंह के ही शब्दों में नारी का आदर्शरूप देखा जा सकता है—

> 'हे स्वामिनि, जगत के उर की प्रेमराज्य की रानी,
> युग युग के अगणित क्लेशों की तू है करुण कहानी।
> मानव कुल की शक्तिदायिनी तू है भव्य भवानी,
> बनती है तू विश्व विजयनी ले आखों में पानी।
> रोते हुए क्षुधित जनशिशु की है माता कल्याणी,
> सदा न्याय रक्षा के हितु तू है रण में वीराणी।
> दुखी जनों के लिए दया की तू है कोमल वाणी,
> सुधा सिक्त रहते हैं तुझ से वसुधा के सब प्राणी।
>
> [मानवी, पृ० २]

लाज की छुईमुई सी नव वधू अज्ञात सदन में प्रवेश करती है। शैशव की क्रीड़ा और चिरपरिचित दुलारभरी गोद छोड़ कर अपरिचित देशकी रानी बनने के लिए निकलती है। "हृदय-देश" पर शासन करने के लिए उसके पास कितने सरल उपकरण हैं—सतीत्व और सरलता की इस प्रतिमा में नारी का आदर्श रूप निखर आया है:—

"मन्त्री बस सदय हृदय है, उपमन्त्री कोमल मन है.
शुचि सत्य शील ही बल है, धन केवल जीवन धन है।"

[मानवी, पृ० १२]

चातक के समान "एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास" रहने पर भी क्रूर जगत्को प्रतिदान में—पुरस्कारस्वरूप सजल मोती प्रदान करती है। उसे न तो संसार की चिन्ता है न दुनिया की फिक्र। वह व्यथा सहती हुई, विद्रोह न कर मस्तक झुकाना जानती है। बड़े-बड़े प्रासादों के अन्तस्तल में उमड़-घुमड़ करघुटता हुआ उसका करुणा का क्रन्दन कवि ने सुना है। स्मित से खिले आनन्द में कवि ने विवशता की पीड़ा भी पढ़ी है और उस विवशता को सहज बन्धन समझने वाले नेत्रों में अद्‌भुत चमक भी देखी है:—

"काजल के काले काले गिरते है आंसू मोती,
घर के भीतर कोनों में है दीप शिखाएँ रोती।"

किन्तु उस रोदन में उच्छृंखला नहीं, सहनशीलता है, तभी कवि की आत्मा उस बलिदान पर उत्सर्ग हो जाना चाहती है:—

"तूने ली है मोल दासता करके निज सर्वस्व दान
रो उठता है हृदय देख कर यह तेरा विचित्र बलिदान।"

[मानवी, पृ० ३५]

उस बलिदान पर कवि नतमस्तक है, उसे दासीत्व में स्वामित्व प्रदान कर देना चाहता है:—

"क्रीतदासी स्वामिनी आराध्य हो आराधिका भी,
प्राण मोहन कृष्ण हो तुम शरण अनुगत राधिका भी।

सहचरी हो भार्या हो, बन्दनीया अम्बिका भी,
भक्ति की कृति हो स्वयं फिर भक्त की प्रतिपालिका भी।"

[प्रवासी के गीत, पृ० १२]

नारी—मधुर-कोमल-भावों की निधि—

नारी ही तो सरल स्नेह, विश्वास, सत्य की अकलुष दीपशिखा है, जो अपनी प्रीतिज्योति से गृह को सुख सुषमामय बना देती है। मानव को उसके करुणाचंल की शीतल छाया में अखिल संतापहारिणी शक्ति मिल जाती है। ज्वर पीड़ित युवक कवि के कोमल भाव स्वप्न बन जाना चाहते हैं:—

"घंटों बैठो यों पास प्राण
फिर ज्वर से जब सहसा कराह
तुमको पुकार आखें भर लूं
व्रीडा से आनतमुख, आँचल
से अश्रु पोछ पीड़ा हर लो
वह कितना सुन्दर सपना हो।"

[कामिनी]

कवि नारी के इस अद्भुत रूप-सामंजस्य पर विस्मित है। आखिर वह क्या है। मंजुता की मूर्ति-सी, भावना की स्फूर्ति-सी कामना की पूर्ति-सी सभी कुछ तो उसमें निहित है। सुजनता-सी विमल, मृदुल शिशुता-सी सरल, चारुता-सी नित-नवल, भाव की भागीरथी-सी वह नारी कदाचित्:—

"जनकजा का प्रेम निश्छल,
शैलतनया का तपोबल,
द्रोपदी का धैर्य अविचल"...लेकर उत्पन्न हुई है।

इसीलिये तो क्या इन्हें लेकर बनी तुम—

'विश्व उर की स्वामिनी.
कौन हो तुम कामिनी।"

[सागरिका, पृ० १६]

सज्जनता की प्रतिमूर्ति, निरीह पशु सी मूक, नारी भी कितनी तीखी हो सकती है, उसके मंजुल कोमल बोल बाणों की स्पर्धा कर सकते हैं। उसकी कोमल भुज-लताएँ सर्पिणी-सी भयानक हो सकती हैं। कुछ क्षणों पहले की प्रेयसी पति के महत्व को इतना सीख गई कि अनन्य उपासक प्रियतम तक को ठुकरा देने में भी नहीं हिचकती:--

'परनारी के घर घुसना पति का खून बहाने।
फिर भी अपने को सलीम कह आया मुंह दिखलाने।'

सलीम उसके इस परिवर्तन पर चकित है, किन्तु मेहर दृढ़ है–

"है वह कौन मेरे जीते जी उन पर हाथ लगावें,
कभी न होगा लाखों ही का सर चाहे गिर जावे।
दोनों में से एक यहां पर पहले सो जावेगा,
तब ही बाल एक भी बाकां उनका न हो पावेगा।'

[नूरजहां, पृ० ६९]

नूरजहां के इन थोड़े से शब्दों में समस्त नारी-विश्व की भावना मुखर हो उठी है। शेर अफगन जैसा क्रूर पाषाण, कोमल भावों से अनभिज्ञ पति पाकर भी तो वह प्रसन्न है:—

"तुम स्वतन्त्र सिंहासन पर बैठो, चंवर डुलाऊं मैं
तेरी एक प्रेम चितवन पर फूली नहीं समाऊं मैं"

[वही, पृ० ११२]

कर्तव्य-परायणा नारी की मातृमूर्ति उसे और भी उज्वल और सुन्दर बना देती है:—

"केतकीगर्भ सा पीला मुंह,
आंखों में आलस भरा स्नेह,
कुछ कृशता नई लजीली सी,
कंपित लतिका सी लिए देह।'

[कामायनी, पृ० ११०]

कवि का इस महापर्व की ओर पूर्ण ध्यान है। मां के सहज स्नेह को मनु की ईर्ष्या न सह सकी, अपना प्यार मनु को छिनता जान पड़ा और वे चले गए। मनु ही नहीं समस्त मानव-विश्व ही उसके त्याग को नहीं समझ पाया:—

"वह निर्दय संसार सर्वदा तुझ पर कीचड़ रहा उलीच,
प्रेमवारि से क्या तुमको दिया किसी ने आकर सींच।"

[मानवी, पृ० ६८]

बुद्ध भी यशोधरा को छोड़ कर चले गए थे, वह भी अपने शिशु के लिए रोती-रोती जीती थी:—

"मेरा शिशु संसार वह दूध पिए परिपुष्ट हो,
पानी के ही पात्र तुम प्रभो रुष्ट या तुष्ट हो।"

[यशोधरा, पृ० ५५]

जगत् नारी के बाह्य शृंगार पर रीझना जानता है, उसके असीम हाहाकार से भरे हृदय में कितना कोलाहल है यह कोई नहीं जानता: —

"होता है जग मुग्ध देख कर तेरा नित नवीन शृङ्गार।
कौन कभी सुनता है बाले तेरे उर का हाहाकार।"

किन्तु आज के कवि की दृष्टि उस ओर भी पहुँच गई है:—

"हे करुणा की कालिन्दी तू वत्सलता की सुरसरिधार।
हे आशीष पवित्र हृदय की तेरा अनुपम प्यार दुलार॥"

[मानवी, ५३]

आज के कवि को भली प्रकार ज्ञात हो गया है कि नारी का मूर्तिमान् अनुराग ही वसुधा का अमूल्य वैभव है। जगत् का धूलधूसरित रत्न उसकी गोदी का लाल है। वह मूर्तिमती मानवता है, दया, क्षमा, ममता की प्रतिमा है। विश्व-प्रेम का आधार है। भारतीय मृदु, मंजु, कामिनी सुन्दर है, पतिपरायण है, सौख्यकारिणी है, दयावती है, भवक्लेशहारिणी है। मानस मोह—तिमिर—विनाशिनी है, गृह लक्ष्मी है, गृहछविप्रकाशिनी है पथ-प्रदर्शिनी है—

"भारतीय मृदु मंजु कामिनी
क्षमामयी है बुद्धि शालिनी,
कर्मयोगिनी है धर्मपालिनी,
संकट में दुर्गा करालिनी,
प्राणवल्लभा हृदय-स्वामिनी।
है परार्थ हित स्वार्थ त्यागिनी,
मनस्विनी पति-अर्द्ध भागिनी,
धैर्यवती देशानुरागिनी,
जग-हितैषिणी प्रेमयामिनी।"

[सागरिका, ९८]

कहना नहीं होगा कि नारी अपने अजस्र स्नेह से ही मानव की धमनियों में स्पन्दन का संचार किए है। उसने अपने आँसुओं से, रक्त से, विश्व को को पाला है—

"गोपा गलती है पर उसका राहुल तो पलता है"—यह गोपा राहुल को नहीं पाल रही वरन् नारीमात्र के ममत्व को प्रगट कर रही है। आदर्श उर्मिला स्वप्न में भी अपने प्रियतम को 'आओ' कह कर घबरा उठती है, वह मन से प्रार्थना करती है "हे मन तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन"। गुप्त जी के इन शब्दों में युग-युग की नारी-भावना पुकार उठी है। वह पुत्र के लिए गाती है, पति के लिए रोती है। इन विपरीत परिस्थितियों में वह केवल शान्त रह कर सहना जानती है:—

"रोना गाना बस यही जीवन के दो अंग।
एक संग में ले रही दोनों का रस-रंग॥"

उर्दू-फारसी का प्रभाव—

आधुनिक कवि जहां एक ओर स्वच्छन्द होते हुए भारतीय नारी के गुणों पर मुग्ध है, वहीं दूसरी वह ओर नारी में स्वच्छन्द प्रवृत्ति का भी आभास पा रहा है। यद्यपि इस प्रकार का चित्रण बहुत कम अंशों में

उपलब्ध है किन्तु स्थान-स्थान पर पुरुष के प्रेम की उपेक्षा करनेवाली, उसके व्यथित मन पर खीझ उठने वाली नारी का भी चित्रण हुआ है। यह प्रवृत्ति उर्दू के कवियों में अधिक सजग थी। भारतीय कवियों ने अधिकतर उसके त्यागमय सौन्दर्य को ही अपनाया। अपने कार्य-साधन के लिए कुत्सित कर्म में तत्पर एक उदाहरण लीजिए। वृद्ध पति को पाकर गुरुभक्त सिंह की जमीला प्रसन्न है, कहीं तो वह भारत साम्राज्ञी होने के स्वप्न देखती थी, कहीं साधारण सूबेदार की पत्नी होकर भी प्रसन्न है, क्यों कि:—

> "उनकी आखों में बस करके गुलछर्रे खूब उड़ाऊँगी,
> अपना उल्लू सीधा करने को बुलबुल उन्हें बनाऊँगी॥'

[नूरजहां, पृ० १०७]

यही नहीं, वह स्वयं ही प्रसन्न नहीं वरन् समस्त नारीमात्र को आदेश दे रही है: —

> "इससे मेरा अनुभव मानों युवती बूढ़े से व्याह करो,
> फिर कौन पूछनेवाला है, चाहे सफेद या स्याह करो।
> पांचो उंगली घी में है अच्छी मेरी बन आई है।
> मेरी तूती अब बोलेगी किस्मत की लाख बधाई है।"

[वही, पृ० १०८]

इस प्रकार के चित्रण यद्यपि नारी के उज्वल मुखमंडल पर कृष्ण बिन्दु के ही समान है तथापि वह बिन्दु उसके मुख पर श्री वृद्धि ही करेगा और मानव-सुलभ दुर्बलता का रूप दिखा कर भारतीय नारी के आदर्श, सतीत्व-दीप्त, सहिष्णु, प्रणयोज्वल रूप की मंजुल आभा के साथ तुलना का अवसर देकर नारी के सहज रूप को दीप्ततर कर देगा।

जहां प्रकाश है वहां अन्धकार की कल्पना की जा सकती है। इसके अतिरिक्त आज के कवि ने दया, स्नेह, ममता की कल्पना करके भी कहीं-कहीं निराशा पाई है। उसकी स्वच्छन्द प्रेयसी उसके उर-उपवन को शून्य कर न मालूम किस वृन्त की ओर उड़ गई:—

"जिसने दिया लिया भी उसने
मन तुमको क्यों पीड़ा होती।
टिकता भी कितने दिन प्यारे,
ममता का वह मोमी मोती।"

[पलाशवन, पृ० ३८]

कवि ने अपने को, समझाने का प्रयत्न किया है :—

"पहले भी कितनी बार इसी जीवन मे हूं जग से हारा
यदि हुई हार इस बार मुझे फिर भी तो जीना होगा ही।"

[प्रवासी के गीत, पृ० २६]

वह हर बार स्वर्णिम स्वप्न की ओर हाथ बढ़ा देता है किन्तु आंख खुलते ही स्वप्न चूर हो जाता हैं, फिर भी :—

"पागल फिर भी क्यों तोड़ रहे हो, आशा छलना से नाता"

[पलाशवन, पृ० ४०]

कविवर नरेन्द्र के गीत ही प्यासे मधुकर के गीत हैं जिन्हें मधु का स्रोत दिखाई देकर भी विलीन हो जाता है :—

'कहा मिलेगा स्नेह, अरे मन मधुकर, मधुरस के प्यासे।'

उसे प्यार मिला था किन्तु सहसा वह स्रोत सूख गया, उसकी प्रेयसी नारी होने पर भी अदय हो उठी। कवि ने स्वच्छन्द प्रेम पर भी दृष्टि डाली है। उसे वह दिन याद है, जब नए कोट के बटन होल में उसकी प्रेयसी ने नए गुलाब की लाल कली लगा दी थी और कहा था :—

'खेल समझ कर फेंक न देना है यह प्रेम भेंट पहली।'··· कवि के हृदय में वह सुरभि बस गई है :—

"कुसुम कली वह कब की सूखी,
फटा ट्वीड का नया कोट भी।
किन्तु बसी है सुरभि हृदय में,
जो उस कलिका से निकली॥"

[प्रवासी के गीत, पृ० ७३]

किन्तु दाता के हृदय में वह सुरभि घर न कर सकी। तभी तो कवि दुखी है:–

"दिन सूरज का, रात चांद की,
हुआ न तेरा ही कोई।
शीतल कर धरती की छाती नदियां सागर में मिल जातीं,
नदियों में जल, जल में लहरें गलबैयाँ डालें बलखातीं।
भरता जो बाहों में अपनी,
हुआ न तेरा ही कोई॥"

[पलाशवन, पृ० ४८]

इस पर भी जर्जर-हृदय कवि नारी के भ्रू-संचालनमात्र से सब कुछ करने को तत्पर है। नैराश्य का घोर तिमिर एक क्षण में हट सकता है:—

"विश्व में अपवाद हूँ, उपहास हूं निष्ठुर समय का,
हथकड़ी बेड़ी बना दी नियति ने सब कामनाएँ।
दीन बन्दी हूं सुमुखि, पर भृकुटि संचालन करो तो,
तोड़ सकता हूँ निमिष में विश्व की सब शृंखलाएँ।"

उसे नारी के अक्षय प्यार और महान् बलिदान पर विश्वास है—

"पतिव्रता या प्रेमव्रता के चरणों की अनमोल धूलि ले
निकले होंगे रवि शशि, तारक जो प्रदीप इस पथिक विश्व के।"

कहना नहीं होगा कि आधुनिक युग ने नारी को अतीव ही उज्वल रूप में अपनाया है। वह रोकर भी उसी का स्मरण करता है, हँस कर भी उसी के गीत गाता है। वह कवि का आराधन है, आलिंगन है, विश्व की सतत साधना है। उसकी वाणी वेद है, उसकी प्रेमकहानी पुराण है। उसे निकट भविष्य में उस दिन की आशा है जब:—

"वेद तुम्हारी वाणी॰ होगी
औ पुराण यह प्रेमकहानी।"

[प्रभातफेरी, पृ० ६३]

इस भाँति हम देखते हैं कि आज का कवि नारी के सर्वांगीण सौन्दर्य की उदारता और सहानुभूति के साथ, श्रद्धा और गौरव के साथ उपासना करता है। वह नारी के रूप की वासनात्मक दीप्ति का ही आकर्षण नहीं अनुभव करता प्रत्युत उसके शील की, चरित्र की, उसके स्वभाव की, उसके उत्सर्ग और त्याग की, उसकी सहनशीलता और दृढ़ता की एवं उसके जीवन के जंजालों की, सभी कोमल, आकर्षक और मनोरम सुन्दरताओं की अपने काव्य में झलक दिखाता है। वह उसकी विशेषताओं और गुणों से आकृष्ट है, पर साथ ही साथ दूसरी ओर वह मानव-सुलभ दुर्बलताओं के कारण उसके प्रति सहानुभूति-पूर्ण है। नारी के प्रति समाज की कठोरता देख वह विद्रोही हो पड़ता है और उसकी सहनशीलता देख नतमस्तक। नारी उसके लिए पत्नी, प्रेयसी, माता, जननी, मानवी, देवी, दासी, सभी कुछ है। फिर यदि वह उस पर सर्वस्व बलिदान कर दे, उसके सौन्दर्य-चित्रण में अपनी तूलिका की समस्त कला निहित कर दे, अपनी काव्यधारा से उसके चरणों को सिक्त कर दे, तो आश्चर्य ही क्या!!!

षष्ठ उन्मेष

पुरुष-चित्रण

काव्य में पुरुष का रूप

सृष्टि के विशाल प्रसाद के दो ही आधार स्तम्भ हैं, नारी और नर। आधुनिक युग के कवि का भावुक हृदय किस भाँति नारी के बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य से प्रभावित हुआ है, इसका पिछले प्रकरण में कुछ परिचय दिया चुका है। इस प्रकरण में पुरुष सौन्दर्य पर कुछ प्रकाश डालना उचित होगा। आदि काल से पुरुष में परुष गुणों की और नारी में कोमल गुणों की उद्भावना की गई है। एक ओर यदि पुरुष दृढ़ विशाल वृक्ष है तो नारी है उसका आधार लेकर बढ़ने वाली मृदुल लतिका।

वैदिक युग से ही बृषल बल पुरुष का सर्व प्रथम और स्वाभाविक गुण माना गया है। समस्त विश्व के आदि काव्य और प्राचीन साहित्य अधिकतः पुरुष की शूरता, वीरता, युद्ध और कार्यतत्परता से ही पूर्ण है। शनैः-शनैः संस्कृत के नाटकों आदि में उसकी अन्य विशेषताओं पर भी ध्यान दिया जाने लगा। हिन्दी के वीर गाथा काल में तो पुरुष, प्रेम और वीरता का ऐसा समन्वित और सरल तपस्वी है कि इन्हीं पर वह अपना आत्मोत्सर्ग कर देता है। पर रीतिकालीन कवियों ने उसे वासनात्मक पुतला ही बना दिया था। किन्तु आधुनिक युग कुछ प्राचीन, कुछ नवीन, कुछ मानवीय गुणावगुणों से युक्त अपनी अनोखी सूझ लेकर पुरुष–सौन्दर्य को एक कलात्मक सजीव रूप में चित्रित कर रहा है।

परम्परागत वर्णनों के अनुसार नायक किसी उच्च अथवा राजकुल का होना चाहिए। धीर, वीर और निर्भीक ,धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरोद्धत, धीरललित आदि कई रूप खड़े किए गए हैं, जिन आधार पर आधुनिक

युग के महाकाव्यों की भी रचना हुई है। किन्तु आधुनिक कवि प्राचीन शरीर देकर भी आत्मा अपनी डालना नहीं भूले हैं।

प्रसाद का आदिपुरुष

प्रसाद को आदि मानव, मनु में उन सभी गुणों एवं अवगुणों का स्वरूप मिलता है जो आज भी सम्भव हैं। मनु मानव की शाश्वत भावनाओं का प्रतीक है। न वह पशु से अधिक है न देवता से कम। वह जीवन के आदर्शों के प्रति आस्था रखता है और यथार्थ के प्रति आकर्षण। इसीलिए कवि ने उसे कलाजगत् में भ्रमण कराया है और वस्तु-जगत् में विचरण। मनु का सारा व्यक्तित्व जीवन की पकड़ की चेष्टा में निखरता है। कवि ने मनु की प्रथम प्रतिष्ठा इस प्रकार की है:—

> "हिमगिरि के उत्तुंग शिखरपर,
> बैठ शिला की शीतल छांह।
> एक पुरुष भींगे नयनों से,
> देख रहा था प्रलय प्रवाह।"

[कामायनी, पृ० १]

यद्यपि उसके नेत्र सजल थे किन्तु वह था पुरुष और उसकी दृढ़ मूर्ति उसी के तेज से ऊर्जस्वित थी—

> "अवयवा की दृढ मांसपेशियां
> ऊर्जस्वित था वीर्य अपार।
> स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का,
> होता था जिनमें संचार।"

[वही]

अतीत की मधुर स्मृति ने, और वर्तमान के कठोर वातावरण ने उसे विचलित कर दिया था। वह जड़ता का वरदान मांग रहा था। किन्तु उसकी यह उक्तियाँ शून्य में विलीन होती जा रही थीं, उन शब्दों को

पवन पी जाता था। प्रतिध्वनियाँ, शिलाओं में रव भरकरकर विलीन हो जातीं। तभी उसमें पुरुष की चिरपरिचित भूख जागरित हुई, वह अकेलेपन से ऊब उठा—

"नव हो जगी अनादि वासना,
मधुर प्राकृतिक भूख समान।
चिर परिचित सा चाह रहा था,
द्वन्द्व सुखद करके अनुमान।"

[कामयनी, पृ० ३४]

अभीतक वह अपूर्ण था, शक्ति-रहित था, इसीलिए क्षुब्ध था, कर्म से विमुख था। सहसा उसे श्रद्धा की मनोहर मुख-छवि दिखाई पड़ी। उसका रिक्त स्थान पूर्ण हो गया, निराशा आशा में परिणित हो गई—

"दो अपरिचित से नियति,
अब चाहती थी मेल।"
"वासना की मधुर छाया,
स्वास्थ्य बल विश्राम।"

[कामयनी]

तभा मनु की इच्छा बोल उठी थी—"कौन हो तुम इसी भूले हृदय की खोज"। इस प्रकार श्रद्धा को वासना की मधुर छाया कह कर मनु अपनी वासना का परिचय देता है। पुरुष अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से ही, किसी सम्बन्ध से ही, किसी सम्बन्ध को केवल अपनी इच्छा पूर्ति के साधन-स्वरूप स्थापित करना चाहता है। क्यों कि सहज समर्पण उससे सम्भव नहीं होता, वह तो नारी की ही महिमा है। नारी भाव-प्रवण होती है और पुरुष ज्ञान-प्रवण। इसी कारण नारी में निर्माण की क्षमता है और पुरुष में विध्वंस की विह्वलता। मनु का एकान्त भंग हुआ, किन्तु यह समर्पण जीवन के बीच शक्ति का शुद्ध स्वरूप लेकर नहीं हुआ। उसमें विलासिता की आग थी, अकेलेपन से ऊबने की प्रतिक्रिया थी। बौद्धिक तत्व का उसमें

अभाव था, इसीलिए परिणाम बड़ा असन्तोषजनक हुआ। उन्माद का अवसाद। पुरुष स्त्री की स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना नहीं कर सकता, उसे वह अपनी छायामात्र मानता है। यदि स्त्री उसके कार्यों का विरोध करे तो वह उसे शीघ्र ही दूर कर देना चाहता है। उसने अभाव तथा श्रम को दूर करने के लिए मधुवन की उपयोगिता भी सीखनी प्रारंभ की। मनु और नहीं तो कम से कम मधुप्रेमी पतियों के साक्षात् प्रतीक हैं। पुरुष पूर्ण अधिकार-प्रिय है। जहा कहीं न्यूनता मिली वहीं वह गुर्राने लगता है। उसे श्रद्धा से वह ममता नहीं रही जो कुछ काल पूर्व थी। उसका मन नवीनता की खोज में भटकने लगा। उसे अपने पुरुषत्व पर गर्व हो रहा था—

"चिर मुक्त पुरुष वह कब इतने,
अवरुद्ध श्वास लेगा निरीह।
गति हीन पंगु सा पड़ा पड़ा,
ढह कर जैसे बन रहा ढीह।"

[कामायनी]

मनु की भ्रमण के उपरान्त मनोनुकूल ईड़ा के दर्शन हुए। यहाँ भी उसकी चिरपरिचित लालसा जाग उठी, फिर वही "अधिकार-सुख" जिसकी 'वलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है' उपस्थित हो गया—

'ईड़े, मुझे वह वस्तु चाहिए,
जो मैं चाहूँ।
तुम पर हो अधिकार प्रजापति,
न तो वृथा हूँ।"

[कामायनी,]

उसे सहर्ष न पाकर पुरुष ने अपने स्वाभाविकगुण, बलका भी प्रयोग कर लिया, किन्तु भयंकर निराशा मिली

कवि ने मनु के रूप में पुरुष की स्वाभाविक प्रकृति को चित्रित कर दिया है। पुरुष का वास्तविक रूप यही है। उसे अधिकार और महत्व पहले

"उस काल मारे क्रोध के,
तनु काँपने उनका लगा।
मानो हवा के जोर से,
सोता हुआ सागर जगा।
करतल परस्पर शोक से,
उनके स्वयं घर्षित हुए॥
दो पद्म-शुंड वाला गज कहीं
मर्दन करे उनको परस्पर,
तो मिले उपमा वही।"

[वही, पृ० ३७]

पुत्र-शोक की झंझा में एक बार प्रकम्पित हो उठने वाले पार्थ ने प्रतिज्ञा की—

"विषधर बनेगा रोष मेरा
खल तुझे पाताल में।
दावाग्नि होगा विपिन में,
बाड़व उदधि जलजाल में।
जो व्योम में तू जायगा तो,
वज्र वह बन जायगा।
चाहे जहां जा कर रहे,
जीवित न तू रह जायगा।"

[वही, पृ० ४०]

अपने कर्तव्य और पण के लिए अडिग और अचल पर्वतराज से दृढ़ रहने वाले सभी आर्य ऐसे ही थे। उनकी वीरदीप्ति से पुराणों और संस्कृत साहित्य के नायकों का मनोरम चित्र सर्वत्र अंकित है।

देवताओं की वांच्छिता अपूर्व सुन्दरी उर्वशी ने पार्थ से प्रणयभिक्षा माँगी। जिस अर्जुन के प्रखर ताप से दिवाकर भासमान है, जिसके यशोगान

से दिशाएँ आपूरित हैं, जिसके गांडीव का गम्भीर निनाद अब भी सुनाई पड़ जाता है, उसी के रूप-लावण्य पर, विशाल भुजबल पर, उर्वशी रीझ उठी। । किन्तु अर्जुन ने उस अनिंद्य सुन्दरी के उन्मत्त विलासों की अवहेलना ही की उसके गरिमामय और महिमामय रूप पर मस्तक झुका दिया। शाप को सहर्ष ग्रहण किया—

"पार्थ पद प्रणत—
सजल-नेत्र,
नेत्र कंपित से-
बोले आर्द्र कंठ—
मां शिरोधार्य शाप यह।"

[वासवदत्ता, पृ० २१]

भारत की प्राचीन मर्यादा के अनुरूप पुरुष में इन आदर्शों की प्रतष्ठा आवश्यक है। अर्जुन ने दूसरे जन्म में निःसहाय होकर जीना स्वीकार कर लिया किन्तु चारित्र्य-कांचन की मोहक दीप्ति उज्वल रखी। वीरता के साथ साथ चरित्र का भी दृढ़ रहना अनिवार्य है। वह जल का ऐसा सरल प्रवाह नहीं जो तनिक सा ढलाव पाकर बह चले। परिस्थितियों के विरूद्ध आचरण करने की क्षमता, बात के प्रतिकूल जाने का सहारा और परिस्थितियों पर शासन करनें की क्षमता अवश्यक है। ऐसे आदर्श-पात्रों से हमारा साहित्य भरा पड़ा है।

किन्तु आज के कवि की मानव-सृष्टि में प्रसाद ने मनु को नर की सहज रिक्तता और दुर्बलता से युक्त बनाकर पुरूष के 'मनोवैज्ञानिक चित्र को अधिक स्वाभाविक बनाया है। मनु समस्त सहज गुणों, बल, पौरुष, उर्जस्विता, वीरता और अंगपुष्टता के रहने पर भी एकाकी होने के कारण चिन्ताजर्जर, रिक्त और अपूर्ण थे।

श्रद्धा को पाकर पूर्ण हुए। मानव मानवी को पाकर विकसित हुआ। यह तो हुई आदि पुरूष की कथा जिसमें मानवसुलभ गुण विद्यमान थे। पुरुष के

प्राथमिक गुण हैं तेजस्वी, वीर, धीर एवं निर्भीक होना। इन गुणों के ही कारण वह विजयी हुआ। स्वतः अपूर्ण होने पर भी महत्व पूर्ण बन गया। उसके जीवन का एक भाग यदि करुणांचल में व्यतीत होता हैं, तो दूसरा जीवन के विषम संग्राम में। धैर्य और शौर्य, उसकी दोनों भुजाएँ हैं। राज-प्रसाद में उन्मुक्त स्वच्छन्द विहग से चहकने वाले सौमित्रि उर्मिला से बात-बात में हार मान लेने वाले लक्ष्मण, कुछ क्षणों बाद ही नींद छोड़ कर जगाए हुए विषधर से फुफकार उठते है। उन्हें अपनी भुजाओं का दृढ़ आधार है—

"चलें वे भी कि जो हैं विघ्नकारी,
कहो तो उलट दूं यह भूमि सारी।
खड़ा है पार्श्व में लक्ष्मण तुम्हारे,
मरें आकर अभी अरिगण तुम्हारे॥"

[साकेत, पृ० ६०]

किन्तु पौरुष से उद्भूत क्रोध और आवेग ही उस महाबाहु के गुण नहीं हैं। उसमें शील, विनय और संयम का रहना भी नितांत आवश्यक है। उसी कारण अग्रज की तनिक सी आज्ञा उनके लिए विधि का विधान थी—

"मनःशासक बनो तुम हठ न ठानो॥"

छोटे से वाक्य ने उन्हें विरही शिशु सा करुण और कोमल बना दिया —

"बढ़ी तापिच्छ शाखा सी भुजाएं
अनुज की ओर दायें और बायें॥"

[वही]

वे कर्त्तव्यनिष्ठ हैं। विरह की कसक उन्हें कर्त्तव्य से विचलित नहीं करती। बन-वासी लक्ष्मण के नेत्र सजल हैं। पर वे प्रिया से दूर रह कर भी अपनी निधि की रक्षा में सजग हैं—

"जाग रहा है कौन धनुर्धर,
जब कि भुवन भर सोता है

भोगी कुसुमायुध योगी सा,
बना दृष्टि गत होता है ॥"

[पंचवटी पृ० ६]

किन्तु, उसी कुसुमायुध से कोमल और विरागी लक्ष्मण को अपनी निधि का अपमान असह्य हो जाता है, वे गरज उठते हैं—

'यदि बैरी को मार,
न कुल लक्ष्मी को लाऊँ।
तो मेरा यह शाप मुझे,
मैं सुगति न पाऊं।"

[साकेत, पृ० ३३५]

पुरुष के जीवित, उसकी पूज्या, आराध्या, रमणी को शत्रु ले जाय और वह शान्त बैठा रहे ? लक्ष्मण एकबार भयंकर शान्ति-शल्य झेलकर भी अरि का मर्दन करने के लिए आकुल हो उठे हैं। लक्ष्मण—

पर क्या पुरुष नहीं होते हैं दो दो दाराओं वाले—

के विरोधी हैं। वे तो सती स्त्रियों के समान अपने एक पत्नीव्रत की दोहाई भी दे लेते हैं। उनकी वीरता, धीरता, शूरता, गौरव के इस नन्हें से वाक्य में निखर उठी है—

'यदि मैंने निज वधू,
उर्मिला को ही जाना।
तो बस अब तू सँभल
बाण यह मेरा छूटा—"

भरत, शत्रुघ्न, आदर्श और वीर बन्धु के पुनीत उदाहरण हैं। लक्ष्मण क्रोध में गरज उठते हैं किन्तु भरत मौन व्यथा सहकर निरंतर अश्रु के घूंट पी-पी कर अपनी हृदय-ज्वाला शान्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। राम गृही थे, लक्ष्मण बनवासी, किन्तु भरत दोनों ही नहीं थे। वे शान्त गम्भीर तपस्वी थे। लेकिन अनुज की आपदाओं से उनका चित्त भी विह्वल हो उठा, उनके पीत, निराश मुख से भी ओजस्विनी वाणी निःसृत हो रही थी—

'बैठा हूँ मैं भंड-साधुता धारण करके,
अपने मिथ्या भरत नामको नाम न धरके
कलुषित कैसे शुद्ध सलिल को आज करूँ मैं ?
अनुज मुझे रिपु-रक्त चाहिये डूब मरूँ मैं
[साकेत, पृ० २७]

मर मिटने की अभिलाषा है, प्रेम में त्याग की मधुर भावना है। उनके दृढ़-व्रत में—

"लौटूंगा तो साथ उन्हीं के और नहीं तो
नहीं नहीं वे मुझे मिलेंगे भला कहीं तो।'
[वही, पृ० ६००]

विजय की उन्मत्त लालसा से भरे हुए 'लघु कुमार शत्रुघ्न का एक-एक अवयव उमड़ रहा है—

"पीवर मांसल अंस पृथुल उर लम्बी बाहें,
एकाकी ही शेष भार ले लें यदि चाहें।
उछल उछल कच गुच्छ निखरते थे कन्धों पर,
रण कंकण थे खेल रहे दृढ़ मणिबन्धों पर।"
[वही, पृ० २८५]

पुरुषोत्तम और आदर्श नर

पुरुष यदि एक ओर उद्दण्ड निर्भीक और धृष्ट है तो दूसरी ओर सच्चरित्र, त्यागी और कर्तव्यशील भी है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम, शील और सौन्दर्य के साकार स्वरूप थे। जिस समय वैदेही सी पुनीत पुण्यशीला प्रतिमा को लांच्छित होते सुना, उनका हृदय जल उठा—

"सभल कर वे मुंह को खोलें,
राज्य में है जिनको बसना।

चाहता है यह मेरा जी,
रजक की खिचवा लूं रसना ।"

[वैदेही-वनबास, पृ० ४४]

वस्तुतः परिणाम ठीक उलटा दृष्टिगत होता है। जनकजा के पावन प्रेम ने, समुज्वल सतीत्वने, उन्हें क्रोध से तप्त कर दिया था किन्तु दूसरे ही क्षण 'साम' की स्निग्ध वारिधारा ने उन्हें शीतल कर दिया, क्रोध कातरता में परिणत हो गया, स्नेह ने कर्तव्य का रूप धारण कर लिया। अनुजों की दृढ़ता, मन्त्रणा सब विफल गई—

"करूंगा बड़े से बड़ा त्याग,
आत्म-निग्रह का कर उपयोग।
हुए आवश्यक जब मुख देख
सहूंगा प्रिया-असह्य-वियोग।"

[वैदेही-बनवास]

पौराणिक पुरुषों का वर्णन अधिकतः आदर्श ही है, क्यों कि वे सब देव-वंशज थे अथवा देव-तुल्य थे या भगवान् के अंश ही थे। पौराणिक कथाओं में त्याग, कर्तव्य, प्रेम, उदारता आदि के ज्वलन्त प्रमाण मिल जाते हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह भगवान् थे इसलिए ऐसा किया। वह मानव-रूप में ही चित्रित किए गए हैं। उनमें सभी प्रकार के उपलक्षण प्रस्तुत हैं। पुरुष के वे स्वाभाविक गुण हैं जो सब कालों में अपनी-अपनी छाप लेकर प्रगट हुए हैं।

पौराणिक या धार्मिक पुरुषों के चित्रण में आधुनिक कवि मर्यादा-परिधि के बाहर अपनी सहज कल्पना को जाने देने में असमर्थ पाता है। श्रुति-परम्परा और मर्यादा-शृंखला ने नायक का जो रूप युगों से अंकित कर रखा है, उससे व्यतिरिक्त चित्रण करना कठिन हो जाता है। क्यों कि जन-मानस में नायक-विशेष की जो मूर्त्ति मुद्रित रहती हैं उसके उस साँचे में भिन्नाकृति मूर्त्ति बैठ नहीं पाती, इस कारण आधुनिक भावनाओं से वासित कवि-सौन्दर्य-कल्पना वहाँ स्वच्छन्द विहरण नहीं कर पाती।

राम आदि का चित्र खींचने वाले कविका रूप भी परिम्परित आकृति के आसपास ही रह जाता है।

अतिप्रसिद्ध ऐतिहाहिक पुरुष-सौन्दर्य का अध्ययन करने पर भी यही दिखाई पड़ता है कि वहां भी वे ही गुण उद्भासित हो रहे हैं, जो परम्परा-प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक दृष्टि से नर का चित्र

पर आधुनिक युग के कवियों की दृष्टि प्राचीन कवियों की अपेक्षा पुरुष-सौन्दर्य पर अधिक पहुँचती है। उन्होंने विशाल नेत्रों को केवल क्रोध की अग्नि बरसाने के लिए नहीं रखा वरन् उनमें ऐसी सम्मोहिनी शक्ति भी रख दी है जो सब को आकृष्ट कर ले। कुणाल के दीप्त उन्नत भाल पर तर्क-सी लहराती हुई अलकें, सजल नील-अम्बुज-सी प्रतिपल विकसित आखें देख कर कवि मुग्ध हो उठता है है—

"आज अंगों में चढ़ा
कमनीयता का रंग
कनक चंपक मुरझते से
देख छबि का ढंग"

[कुणाल, पृ० १८]

उसके नयन भी कानतक खिँचे अजान नयन की शोभा प्राप्त कर रहे थे—

"छू रहा छोर श्रुति के
नयन का विस्तार–

उन कमल नयनों को देख कर....

"देखकर ये कमल लोचन हो गए मृग मुग्ध
पास आकर पान करते दृष्टि का मधु-दुग्ध।"

[कुणाल, पृ० १६]

कुणाल का अंग-प्रत्यंग अनुपम था—

"विधि-बनाया धन्य
कर उनका सफल निर्माण।"

ऐसा प्रतीत होता था मानों—

"विश्व के सौन्दर्य औ,
माधुर्य का सब सार,
केन्द्रगत सा हो गया
जैसे यहीं साभार।"

[कुणाल]

कुणाल सौन्दर्य में ही अपरिमेय नहीं था, वरन् शक्ति में भी उसका उपमान उपलब्ध न था। विचारों के सदृश विशाल भुजाएं अरिदल पर टूट पड़ने के लिए प्रस्तुत थीं। विशद वक्ष भुवन का भार वहन करता सा प्रतीत होता था। कवि की दृष्टि सहज सौन्दर्य की ओर अधिक सचेस्ट है। कुमार का मसृण पृथुल गात वस्त्र अथवा अलंकारों से ही शोभित नहीं था, उनकी स्वतः द्युति ही लावण्यमयी थी—

"नग्न तन भी वे दिखाते
अतुल शोभागार।
प्रकृत शोभा को कहीं
क्या पा सका शृङ्गार।"

[कुणाल, पृ० १८]

कुणाल का वर्णन एक प्रकार से शिख से लेकर नख तक ही हो गया हैं, जिसमें कवि ने नर-सौन्दर्य का कोई गुण अछूता नहीं छोड़ा है।

मौर्य कुल का बाल-सूर्य, समरों का विजेता, स्वजन और परिजनों का प्रिय, सम्राट् का एकमात्र अवलम्ब, केवल माता की कुवासना न शान्त कर सकने के कारण दंडित हुआ। तिष्यरक्षिता ने प्रतिशोध की भावना से कुणाल को विद्रोही घोषित किया और उन्हीं आँखों को, जिन्हें देखकर उसका हृदय विचलित हो गया था, निकलवा डालने की आज्ञा दी। आज्ञापत्र देख कर लोग विद्रोह करने पर तुल गए थे किन्तु निर्भीक कर्तव्य-परायण कुणाल अविचल था। आज्ञा न पालन करने पर उसका रक्त उबल उठा—

"आज्ञा पालन करो यही मेरी भी आज्ञा,
उल्लघंन में दंड लिए फिरती राजाज्ञा।"

[कुणाल]

जिस कुणाल की 'सरल दृष्टि रंक को सिंहासन पर ले आती थी वही युवराज बीणा तक को आज्ञा बिना नहीं ग्रहण करना चाहता—

"भिक्षापात्र कांचना के कर
औ' कुणाल के कर में बीन।
प्रस्तुत दोनों थे चलने को,
जनता थी चेतन हत दीन॥

[वही]

समस्त सुख के उपकरणों में पले हुए कुणाल का इतना महान् त्याग, उसकी दृढ़ता और कर्तव्य-परायणता का ही परिचायक है। क्षमा, दया और स्नेह मानव के वे ही गुण हैं जिनके कारण पशु के स्तर से ऊंचा उठकर मानव मानव कहलाया और इन्हीं के वृद्धि-क्रम से वह देवत्व भी प्राप्त कर लेता है। अपराधी को दंड पाकर उतना कष्ट और ग्लानि नहीं होती जितनी उसे क्षमा प्राप्त करने पर होती है। साम्राज्ञी का अपराध साधारण न था। किन्तु उस भयभीता, लंच्छिता, प्रताड़िता तिष्यरक्षिता की आर्तवाणी सुन कर कुणाल को दया हो आई और वह पुकार उठा—

"महाराज प्रथम हमारा शीश कर लो छिन्न
फिर जननी का शीश होगा कंठ से विच्छिन्न।"

[वही. पृ० ११२]

चित्तौड़-कुल-गौरव महाराणा प्रताप ऐसे ही आदर्श पुरुष के उदाहरण हैं। उनमें सभी गुण पर्याप्त मात्रा में विराजमान हैं। उनका हृदय एक ओर हीरे की कनीं और पहाड़ की चट्टान की तरह कठोर था तो दूसरी ओर शिरीष-कुसुम और गुलाब के पुष्प सा कोमल। अकबर की भेद-नीति ने राजपूती गौरव को नीचे गिरा दिया था किन्तु प्रताप ने अपने प्रताप से उसकी भित्ति गिरने न दी—

"स्वतंत्रता का वीर पुजारी, संगर मतवाला है।
शत शत असि के सम्मुख उसका महाकाल भाला है॥
"धन्य-धन्य है राजपूत वह,
उसका सिर न झुका है।
अब तक कोई अगर रुका तो,
केवल वही रुका है॥
निज प्रताप-बल से प्रताप ने,
अपनी ज्योति जगा दी।
हमने तो जो बुझ न सके,
कुछ ऐसी आग लगा दी॥"

[हल्दीघाटी, पृ० ४९]

एक ओर राणा-से अडिग सेनापति जागरूक थे, दूसरी ओर अकबर-से विलासी, स्वार्थी सम्राट् देश की स्वाधीनता छीनने जा रहे थे। ऐसे स्थलों पर आधुनिक काव्यकारों ने पुरुष को उसके गुणों के अतिरिक्त उसकी हीनताओं से युक्त भी दिखलाया है। अकबर की विवेक-बुद्धि नष्ट हो गई थी—

"अहो हमारी माँ बहनों से,
सजती थी मीनाबाजार।
फैल गया था अकबर का,
वह कितना पीड़ामय व्यभिचार॥"

[वही, पृ० ३९]

उसमें सहृदयता और सरलता का अभाव था। मधु-लोलुप भ्रमर-सा वह कलियों का मधुपान कर उड़ जाता था, फिर उसे उस वृन्त की क्या चिन्ता—

"हो उठता था विकल देखकर,
मधुर कपोलों की लाली।
पीता था अलि सा कलियों के,
अधरों की मधुमय प्याली।"

[वही, पृ० ३१]

यह केवल नीति नहीं थी, उसकी स्वाभाविक शठता थी। यदि यह आचरण उसका स्वभाव न बन गया होता तो वह अपनी पुत्रीतुल्य अनारकली को इतना कष्ट क्यों देता। अनारके रूप-लावण्य को विकृत करने की अक्षय ललसा उसके हृदय में जल रही थी। अपना समस्त वैभव अकबर उसके चरणों पर लुटाने आया था। अपना पौरुष, एक असहाय अबला को बरबस अपनी ओर खींचने के लिए आजमाने, आया था और न पाने पर—

"जो नाम है मेरा अकबर तो तुझको दिखलादूंगा,
मैं केवल परख रहा था कुछ तुमको सिखलादूंगा॥"

[नूरजहां, पृ० ३२]

सिखलाया भी क्या; अपने अधिकारों का दुरुपयोग किया, कोमलता की उस पुतली को प्रिय के दर्शनों से भी बंचित कर दिया, असहाय को निराश्रय भी कर दिया। यही है चक्रवर्ती सम्राट् अकबर का पौरुष, जिसने एक निरबलम्बिनी युवती को, उसके प्रथम सहज-पावन प्रेम का ऐसा कटुतर दण्ड दिया। किन्तु महाराणा प्रताप जब ऐसी अडिग अविचल नारियों की गाथा सुनते थे तो—

"जब प्रताप सुनता था ऐसी,
सदाचार की करुण पुकार।
रण करने के लिए म्यान से,
सदा निकल पड़ती तलवार।"

[हल्दीघाटी]

प्रताप के बल ने असंख्य सैनिकों से घिरे हुए अकबर के हृदय में अशान्ति मचा रखी थी। अकबर उसके बल की कल्पना तक नहीं कर पाता। घबरा कर केवल पूछ बैठता—

"कैसी है उसकी ललकार, कैसी है उसकी किलकार?
कैसी चेतक गति अविकार, कैसी असि कितनी खरधार?"

[हल्दीघाटी]

सम्राट् के प्रिय मित्र मानसिंह को एक साधारण सेनानी का अपमान असह्य हो गया, उसे अपने रक्षक का घमंड था किन्तु राणा ने, जिसका एक मात्र आधार उसकी असि और भाला था, जिसकी विजय केवल उसकी भुजाओं पर अवलम्बित थी, यवन सम्राट् तक को ललकार दिया—

'भभक उठेगी जब प्रताप के प्रखर तेज की आगी।
तब क्या हूँ बतला दूँगा ऐ अम्बरकुल के त्यागी।"

[वही, पृ० ६६]

प्रताप ने अपने कुल - शील की चिन्ता में विरागी का वेष धारण किया, प्रतिज्ञा की श्रृंखलाओं में राजसी शरीर को भी जकड़ दिया—

"अब से मुझ को भी हास शपथ,
रमणी का वह मधुहास शपथ।
रति-केलि-शपथ, **भुजपाश-शपथ,**
महलों के भोग-विलास शपथ ॥"

[वही, पृ० ८२]

राणा में आत्मनिर्भरता की अपूर्व झाकी देखने को मिल रही है। वह अपने निश्चय का, प्रतिज्ञा का दृढ़व्रती है। चाहे संसार की गति दूसरी ओर भले ही हो जाय, चाहे स्वयं सफलता साथ न दे किन्तु उसे परवाह नहीं—

"यह तो जननी की ममता है,
जननी भी शिर पर हाथ न दे।
मुझको इसकी परवाह नहीं,
चाहें कोई भी साथ न दे।"

[वही, पृ० ८३]

राणा के विशाल हृदय को विजयश्री, दर्प-पूर्ण नहीं कर सकती। विजित को पद-तले रौंद डालना• उसकी क्षमता के बाहर है। वह विजित शत्रु का भी आदर करना जानता है। अपमान करने वाले को उदारता से क्षमा करना उसका गुण है—

"दौड़ा अपने हाथों से जाकर अरि बन्धन खोला ।
....
"अरि को भी धोखा देना शूरों की रीति नहीं है ।
छल से उनको वश करना मेरी नीति नहीं है ।"
[वही]

उस व्रती ने अपनी नीति और श्री को सम्हाले रखने में अपना सर्वस्व होम कर दिया। दो-दो तीन-तीन दिन पर घास की रोटी प्राप्त कर, कंकड़-पत्थरों पर आवास बना कर भी दृढ़ी अपने व्रत पर अचल रहा—

"लाशों पर लाशें देखी घायल कराहते देखे,
अपनी आँखों से अरि को निज दुर्ग ढाहते देखे,
तो भी उस वीर व्रती का था अचल हिमाचल-सा मन,
पर हिम-सा पिघल गया वह सुनकर कन्या का क्रन्दन ।"

आज के कवि ने आदर्श, धीर नायक में मानव की ममता का चित्रण करके उसे स्वाभाविक बना दिया है। राणा के विशाल कठोर वक्षस्थल के नीचे कोमलता से भरा एक सरल हृदय भी था जिसमें चेतक और निरीह शिशु का करुण क्रन्दन विष सा व्याप्त हो गया। इतना दृढ़ी भी अपने नयन शुष्क न रख सका। उसका हृदय जड़ नहीं हो गया था, उसमें चेतना का, ममता का स्पन्दन, मधुरता का वर्षण, निरन्तर हो रहा था। अभी तक उस पर देश-प्रेम का गहरा आवरण चढ़ा हुआ था जो केवल क्षणमात्र के लिए झंझा के झोंके से हिल गया था। सहसा पत्नी की मधुर स्वर-लहरी ने राणा के अन्तस् की रणभेरी को जगा दिया और—

"लेकर नंगी तलवार इधर
रणधीरों का सिरताज चला ।"

[हल्दीघाटी, पृ० १८२]

फिर राणा का रण-कौशल अपूर्व हो उठा—

"राणा हय की ललकार देख,
अविराम वार पर वार देख।
राणा की चल तलवार देख,
वीर समर भी कांप उठा...
राणा कर ने शिर काट काट
दे दिया कपाल कपाली को
शोणित की मदिरा पिला पिला,
कर दिया तुष्ट रण काली को।"

[वही]

जहाँ एक ओर हम राणा में उदारता, करुणा, धर्म, वीरता, प्रेम और और देशप्रेम देखते हैं, वहीं शक्तिसिंह से युद्ध करते समय उसमें बुद्धि-हीन उदंडता भी देखते हैं—

"तन कर राणा शक्तसिंह से बोला ठहरो तुम।
ऐ मेरे भीषण भाला भाई पर लहरो लहरो तुम।
पीने का है यही समय इच्छा भर शोणित पी लो तुम।
बढ़ो बढ़ो अब वक्षस्थल में घुस कर विजय अभी लो तुम।"

[वही, पृ० २८]

शक्तसिंह में क्रोध के कारण देश-द्रोह का भाव दिखाई पड़ता है और मानसिंह में पद-लोलुपता और मिथ्यामहत्व का दर्प। पर जहाँ एक ओर ये पात्र हैं वहीं दूसरी ओर—

"तब तक झाला ने देख लिया,
राणा प्रताप है संकट में।
बोला न बाल बाँका होगा,
जब तक है प्राण बचा घट में।"

[वही]

और वह अपनी दुधारी तलवार लेकर नाहर से शत्रुओं पर टूट कर बढ़ाता चला गया, और राणा का छत्र अपने शिर पर लेकर जब लड़ने लगा तब—

"झाला को राणा जान मुगल
फिर टूट पड़े वे झाला पर।
मिट गया वीर जैसे मिटता
परवाना दीपक ज्वाला पर।"

[हल्दीघाटी]

इस भाँति हिन्दुओं की आशा, राणा की रक्षा के लिए हँसते-हँसते उल्लास और उत्साह से मर मिटने वाले वीर भी हैं और है निःस्वार्थ लड़ने वाले कोलभिल्ल भी।

जौहर में भी जहाँ एक ओर परम क्रूर ममता-हीन, रक्तपिशाच विलासी, शराबी अलाउद्दीन खिलजी का एक चित्र है, खिलजी की कामुकता, विलासिता और चरित्र-भ्रष्टता क्रूरता और निर्दयता तथा मता-हीनता आदि को आलिंगन में भर कर हमारे सामने आती है, वहीं दूसरी ओर त्याग, वीरता और शालीनता की मूर्तियाँ गोरा और बादल आदि भी हैं:—

"रानी की बातें सुनकर दो बालक आगे आये,
बोले मां तेरी जय हो संगर के बादल छाये।
मां, उसी ओर हम होंगे तेरा जिस ओर इशारा,
खिलजी दल पर लहरेगा, मां पी पी रक्त दुधारा।"

[जौहर, पृ० ५०]

मानवता की पूजा

आज का कवि पुरातन वायुमण्डल से ऊब कर उन्मुक्त वातावरण में श्वास लेने के लिए मचल उठा है। पहले तो यह उसका बाल-प्रयास हास्यास्पद था किन्तु शनैः-शनैः उसकी इच्छा पूर्ण हो चली है। प्राचीन शरीर को नवीन वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करता तो बहुत दिनों से चल रहा था, अब आज का कवि नवीन प्राणों की स्फूर्ति भर देने को विकल है। युग भी जागर्ति का है। चारों ओर अधिकारों की मांग, विवशता की

दबी हुई कराह, बिप्लव की उमड़ती हुई आग—इन सब ने मिल पुरुष का सौन्दर्य ही कुछ बदल दिया है। कवि ऐसे आदर्शों की प्राप्ति में नित्य-प्रति निरत है। देश का अमर वैभव, जनता का प्राण, दुखियों का दुलारा न तो महाराणा प्रताप-सा हृष्ट-पुष्ट भीम-काय है, न भाले और असि से सुसज्जित सेनानी। वह न तो वायु से लड़ने वाले चेतक का अधिष्ठाता है, न शोणित की नदी बहा देने वाला नादिरशाह। वह तो है मांसहीन जीर्ण-शीर्ण-काय पुरुष—

"तुम मास-हीन तुम रक्त-हीन,
हे अस्थि शेष तुम अस्थि हीन।"

[पन्त]

स्वयं नग्न रहनेवाले ने—

"हे नग्न! नग्न पशुता ढंक दो
बन नवसंस्कृति मनुजत्व पूत।"

उसने निरस्त्र रह कर भी—

"रोका मिथ्या का बल प्रहार, बहु भेद विग्रही दिखाई,
ली जीर्ण जाति क्षय से उदार"....

[वही]

क्षुधित, तृषित, अवसन्न देश तलवार लेकर करेगा भी क्या, उसे तो दुर्बल-दलितों के क्रान्तिघोष, पद-दलितों के शक्तिकोष की अर्चना करनी है। उस अग्रदूत के उन्नत ललाट पर न कोई मुकुट है न छत्र। न तो उसपर लहराती हुई केशपाशि है न विरागी का जटाजूट। वहां तो:—

"उन्नत ललाट पर चिन्ता की,
कतिपय रेखायें लिये हुए।
विस्तृत भौंहों, विशाल नेत्रों में
ममता का मधु पिये हुए।"

[युगधार, पृ० ३]

कंगालों के उस प्रतिनिधि में चन्द्रमौलि सा वैभव है—

"अजानु बाहु फैली दोनों,
वक्षस्थल सघन रोमावच्छित।
कटितट पर खादी की कछनी,
अपनी कंगाली का प्रतिनिधि"

"सिर पर छोटी सी चोटी के अनियंत्रित केश छहरते से
दृढ़ अंग और प्रत्यंग खुले मलयज के संग लहरते से।"

[वही]

इस छोटे से प्राणी में कितनी महत्ता भरी है। बड़े-बड़े सेनानी उसके पग पर पग रख कर चलते हैं। समस्त देश गहरी निद्रा से जाग कर हुँकार कर उठा है। जिसके पास केवल आत्मबल ही एकमात्र शस्त्र है, क्षमा जिसका अमोघ वरदान है, ममता जिसकी एकमात्र सहचरी है, अहिंसा जिसकी पुनीत प्रतिभा है, वह बापू आधुनिक युग के अनेक काव्यों-कविताओं और महाकाव्यों का प्रेरणा-स्रोत बन गया है। 'सर्वजनहिताय', "सर्वजन सुखाय', 'लोकानुम्पाय' वह धरित्री पर मुट्ठी भर की काया लेकर अवतरित हुआ। विश्व के समस्त पीड़ित, प्रताड़ित, व्यथित आशाभरे लोचनों से उस ममता और स्नेह के रत्नाकर की ओर निहारते रहे। और वह समस्त विश्वके दुर्दमनीय प्रचण्ड भौतिक लौहशक्ति के संमुख अपनी सर्वभूत-दया का अभेद्य, अछेद्य, अजेय कवच पहने, सबको चुनौता देता अप्रतिहत गति से मानवता की उत्तुंग चोटी पर चढ़ता चला गया—

"नीली सागर की लहरों को,
यह कौन अकेले वीर चला।
लड़ने को सुभट लड़ैती से,
यह कौन अकेले वीर चला।
है मुट्ठी भर हड्डियाँ भले ही,
कह लो तुम इसको शरीर।

संसार कँपाता चलता है,
यह भारत का नंगा फकीर !"

[युगाधार, पृ० ६]

बापू का पुरुषत्व, पौरुष वृत्तियों को लेकर नहीं, शक्ति और भौतिक पाशव बल लेकर नहीं, अहिंसा, माया, ममता, करुणा, स्नेह, दया, विश्व-कल्याण-कमना और अनन्त निश्छलता की दीप्ति लेकर आया। सभी कवि उस पर मुग्ध हुए, अनगिनत मुक्तक, प्रबंध काव्य उस पर लिखे गए और लिखे जा रहे हैं। दानवीय प्रतिहिंसा, असहिष्णुता और अज्ञानके घनान्धकार से अंध हृदय ने जिस समय अजातशत्रु महामानव की भौतिक देह में बद्ध आत्मा को परिमुक्त किया उस समय विश्व की वह विभूति स्थूल चक्षुओं से ओझल हो गई, कवि के सामने से विश्वकवि की वह अनन्त सौंदर्य-प्रतिमा, पूर्ण मानवता, वह अजातपूर्व मूर्ति चूर-चूर हो गई। समस्त विश्व के सभी कवि रो पड़े, भारत का बच्चा-बच्चा तक रो पड़ा और आधुनिक हिन्दी के सभी कवियोंने करुण क्रन्दन करते हुए, भावाश्रु की श्रद्धांजलि चढ़ाई। बापू का महा-प्रयाण श्रेष्ठतम करुण सौंदर्यका अंनन्त रत्नाकर हो उठा है। यह सौंदर्य स्वतंत्र ग्रंथ का विषय है।

आज के पुरुष में विद्रोही भावनाएँ भी प्रबल हैं, भुजदंडों में सत्यशक्ति जाग रही है—

"नहीं हाथ में धनुष-बाण ,हैं
नहीं चक्र शूली कृपाण हैं।
लड़ते हैं फिर भी मतवाले,
शीश सत्य का शिरस्त्राण है।"

[वही, पृ० ६१]

पर इसी के साथ क्रांति के चतुर्दिक् घोष के कारण पुरुष की परुष प्रवृत्तियां रह-रह कर उद्वेलित हो रही हैं। उद्वेलन ही उनका स्वाभाविक गुण है। जहां एक ओर रमणी की बंकिम भ्रू-भंगी मानस में हलचल भर देती

है वहीं पुरुष की तीक्ष्ण भ्रुकुटि प्रलय का सन्देश दे जाती है। शक्ति की मधुर कंठध्वनि से जगती थिरक उठती है, शिव के गम्भीर निनाद से काल ताल भरने लगता है—

"तेरी उमंग से सिन्धु तरंगे,
सीखा करती हैं उठना।
तेरे मानस से सीखा करता,
गगनांगन विशाल बनना।"

[वहीं, पृ० ४९]

पुरुष का उभार व्यष्टि का नहीं समष्टि का उभार है—

"तेरे उभार के साथ उभरती,
है दुनिया में सुन्दरता।
तेरे निखार के साथ
निखरती है दुनिया में मानवता।"

[वही]

पुरुष की ओजस्विनी प्रतिभा से गहन तिमिर दूर होता जा रहा है, मृतकों को त्राण मिल रहा है—

'जो मुरझ चुके पानी न मिला,
आती उनमें हरियाली है।
तू आता क्या तेरे पदनख से,
फट जाती अँधियाली है।
तू प्राची का पावन प्रभात,
तू कंचन - किरणों का बितान
ओ नौजवान ओ नौजवान॥"

[वही]

बापू के जीवन में ही जहाँ एक ओर जब उद्बोधन के अनन्त गीत सुनाई पड़ते हैं वहीं दूसरी ओर बापू के आदर्श पर चलने वालोंके

चरित्र-सौंदर्य भी काव्य के प्रेरक बनते हैं। अहिंसा के परिपोषक, उच्चादर्शों के समर्थक, दुःखियों के सहायक, विश्वबन्धुत्व के मधुर गायक, विद्यार्थीजी का आत्मोसर्ग पुरुष की विशाल हृदयस्थ गम्भीरता का, उदारता का और महत्ता का परिचायक है। खादी में लिपटे हुए एक दुर्बल व्यक्ति में कितना शारीरिक बिल था, कितना तेज था।

कानपुर के विप्लव में खोए हुए इस नर रत्न का सौन्दर्य कुछ अलौकिक ही था। उसके मृदु स्वर में कुछ ऐसी ही मिठास थी। उसके तर्क में कुछ ऐसी तात्विकता थी जिससे वैरी भी झुकते। जिस समय हिन्दू-मुसलमान बर्बर पशुओं-से होकर एक दूसरे के रक्तपिपासु हो रहे थे, उस समय भी विद्यार्थी जी दृढ़ थे:—

"आग लगी यदि इस घर में,
तो यहाँ प्रथम जलूंगा मैं।
मेरा दृढ़ निश्चय है इससे
नहीं कदापि टलूंगा मैं।"

[आत्मोत्सर्ग, पृ०]

दिनभर भूखे-प्यासे जन-त्राण के लिए दौड़ते व्यक्ति को विश्राम की इच्छा तक नहीं है। चारों ओर प्रलय की विभीषका तांडव कर रही है, करुण कंठों की आर्त वाणी अणु-अणु में व्याप्त हो रही है, तब कैसे वह आदर्श नर जल भी पी सकता है :—

"कैसे पिऊं यहां यह जल मैं
रक्त मेरे इन हाथों का है?"

"बैर प्रेम में परिणत करके लेकर लोगों को साथ
बचा लिये विद्यार्थी जी कितने ही असहाय अनाथ।"

मृत्युकाल उपस्थित होने पर भी उनका आत्मगौरव दया की भीख नहीं मांग सका :—

'मैं अपना एहसान जताने आया नहीं सुनो भाई,
अपना दावा पेश कराने इन्सानियत मुझे लाई।"

[वही]

वह अविचल ज्योतिस्तम्भतुल्य खड़ा ही रहा—

'छोड़ो' तन कर कहा उन्होंने,
छोड़ो मुझे यहीं हूं मैं।
नहीं भागना सीखा मैं,
वह नामर्द नहीं हूँ मैं।'

[आत्मोत्सर्ग]

"यदि मेरा रक्त ही तुम्हारी क्रोधाग्नि को शान्त कर सकता है तो"—

'यही चाहते हो तो आओ,
अपनी जगह अड़ा हूं मैं।
बुझे खून की प्यास तुम्हारी
लो तैयार खड़ा हूं मैं।"

[वही]

सहसा अडिग वीर भूमि-शायी हो गया। सान्ध्य गगन में दिनकर आभाहीन हो गया, रजनी ने काली चादर ओढ़े सजल नेत्रों से उनकी ओर देखा और छिपा लिया उन्हें अपने अंचल में। किन्तु उस मुखश्री की आभा अन्धकार में भी प्रकाश विकीर्ण कर रही थी, बुझी हुई आंखें भी हत्यारों पर तीखे तीर चला रही थीं—

"लड़ता हुआ रहा जीवन भर,
परम अहिंसक जो ध्रुव धीर,
मर कर अब उन हत्यारों पर,
छोड़ रहा था तीखे तीर ॥"

नरपुंगव ने, जिस नश्वर तन की खाद देकर वह बीज लगा दिया, उसका मधुर फल युगयुगान्तर तक मधुर बना रहेगा। उसकी चिता ने वह ज्वाला जला दी जिससे दिग्-दिगन्त आलोकित हो उठा है।

जहां एक ओर नर में हम शौर्य और साहस का, त्याग और उत्सर्ग का, करुणा और सहानुभूति का आलोक प्रदीप्त देखते हैं वहीं दूसरी ओर

प्रतिनायक की दृष्टि से उनमें कभी-कभी क्रूरता और धूर्तता, कामुकता और बर्बरता भी दिखाई पड़ती हैं। आज कल हास्य की कविताओं में मानव की त्रुटियों और दुर्बलताओं का मजाक उड़ाते हुए उन पर व्यंग्य भी किए गए हैं। किन्तु काव्य की प्रौढ़ वास्तविकता की दृष्टि से उनमे कोई महत्व नहीं है। न तो उन रचनाओं में अनुभूति और भावना की गम्भीरता है और न अभिव्यक्ति की रमणीयता या वक्रता ही है। एक बात और है। हास्यरस के इन वर्णनों ने आज के युग की सभ्यता और फैशन आदि की इतनी अधिक चर्चा हुई है कि वे केवल सामयिक ही रह जाती हैं और उनका सार्वकालिक महत्व न रहने से इतिहास में उनका कोई स्थान नहीं रह जाता है। कहना नहीं होगा कि आधुनिक प्रगीत काव्यों में, जो वस्तुतः आधुनिक युग की प्रमुख विशेषता है पुरुष-सौन्दर्य का निरूपण अपेक्षाकृत कम हुआ है। इने-गिने कुछ महाकाव्यों के पात्र ही काव्य में चित्रित हुए हैं। प्रतीत तो ऐसा होता है कि "मोहे न नारि नारि के रूप" के अनुसार पुरुष भी पुरुष-सौन्दर्य पर मुग्ध न होकर उसकी उपेक्षा-सी ही करते रहे हैं।

सप्तम उन्मेष

वस्तु-सौन्दर्य

वस्तुगत सौंदर्य और कृत्रिमता

संसार में अगणित वास्तविकताएँ हैं और हैं उतनी ही कृत्रिमताएँ भी। जिन वास्तविकताओं से मानव जीवन को सुरस मिला उसने उन्हीं की चाशनी में अपने को डाला। इसी स्वाभाविकता को सूचित करने के लिए भित्ति-चित्रकला का जन्म हुआ। वे चित्र ही हमारी मनोवृत्ति के परिचायक थे। देह के न रहने पर भी देही परिचय के लिए जीवित रहता था। व्यक्ति के मूर्त जीवन में एक अमूर्त कवित्व भी अगोचर है। और सच तो यह है कि वह अमूर्त कवित्व ही हमारे मूर्त जीवन का प्राण है, विकास है, 'उसी से हम वास्तविकताओं की मिट्टी में भी एक जीवित प्रतिमा हैं। अन्यथा जीवन हाड़-मांस की ठठरियों के दुस्सह भार के सिवा क्या रह जाय? कला के विना वास्तविकता मृत है, जीवित वास्तविकता ही मानवीय स्वाभाविकता है।'

आज का कला-प्रेम बहुत कुछ कृत्रिम हो चला है, और वह केवल इसीलिए कि कला हमारे लिए रूढ़ होगई है। युग की हलचल में जहाँ कला का बहिष्करण तथा वास्तविकताका नवीनीकरण मध्ययुग तथा आधुनिक युग की विभीषिकाओं द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों की खिन्नता को सूचित करता है, वहाँ नव-चेतन युग के प्रश्नों से आँख मूंद कर कला के संरक्षण का ढोंग भी एक फैशन सा लगता है। "आर्ट गैलरी"की कला मुट्ठी भर सम्पन्न व्यक्तियों को प्रसन्न करती है। देखनेवाले देखते हैं, कला विद्युद्दीपों में ज्वलन्त हंसी हस कर रह जाती है।" इन अतिशय स्वाभाविक एवं कृत्रिम स्वरूपों के उल्लेख से केवल इतना ही तात्पर्य है कि आज के कवि ने इन दोनों अतिशयों को छोड़ कर मध्यम मार्ग में सौन्दर्य खोज निकाला है। प्रकृति जगत् का जो दैन्यभाव जगत् के इन्द्रजाल को अपनी रंगीन छत बना कर,

आत्म विस्मृत था, आज वही इस इन्द्रधनुषी अकाश को लुप्त होते देख कर अपने वस्तु-गह्वर में चीत्कार कर उठा है। वस्तु-जगत् की माँसलता में ही भावजगत् की कला-प्रतिमा साकार हो सकती है। सौन्दर्य के विविध उपकरणों को ढूँढ निकालने वाले सहज सौन्दर्य-प्रेमी कवि या तो प्राकृतिक सौन्दर्य में रम जाते हैं अथवा मानव-सौन्दर्य में ही उलझे रहते हैं।

पूर्व के पृष्ठों में आधुनिक हिन्दी-काव्य में इनके स्वरूपों की चर्चा हुई है। यहां इन क्षेत्रों से भिन्न अर्थात् मानवेतर तथा प्राकृतिक सौन्दर्य से भिन्न स्वरूपों का विचार करने की चेष्टा की जायगी।

मध्ययुग से लेकर आज तक जगत् ऐश्वर्य और सौन्दर्य की रंगीनी की उपासना करता चला आया है। यह जीवन की विलासमयी दिशा राजा, और रईसों से परिचालित थी। जिस प्रकार उनका आसन प्रजा का राजनीतिक नियम था उसी प्रकार उनकी रुचि प्रजा की पसन्द बन गई थी। ऐसी ही अवस्था में राजा–रईसों ने महलों में बैठ कर स्वर्ग को प्रत्यक्ष पाया, नवीन कीमियागरी-भरी, पच्चीकारी में आह्लाद पाया। कृत्रिमता की ओर रुचि उन्मुख हुई, वहीं सौन्दर्य के दर्शन हुए। यद्यपि उसमें दर्शन न होकर प्रदर्शन ही अधिक था तथापि थी वह कल्पना–प्रसूत कृत्रिम सौन्दर्य की साकार भावना। इस भावना को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है, मूर्त एवं अमूर्त।

कृत्रिमता और सौन्दर्य

मूर्त चित्रणों के अन्तर्गत महलों, मन्दिरों, मस्जिदों आदि का सौन्दर्य-वर्णन आवेगा। ऊपर कहा जा चुका है कि कृत्रिमता की इस भावना में भी भी कला अवश्य साकार हो उठी थी। कवियों की लेखनी उस वस्तु-सौन्दर्य को चित्रित करने में सहृदय हो उठी जो मानव हृदय और शरीर दोनो से संयुक्त था। विशाल दुर्ग को देख कर कवि उसमें मुकुट की छवि का आरोप कर देता है—

> **"देख पड़ा पर्वत मस्तक पर मुकुट तुल्य एक कोट विशाल,**
> **लतिकाओं के बूटे जिस पर फल के थे लटकाए लाल।**

दृढ़ दीवारों में लोहे के फाटक बड़े लगाए थे
बहुत मोर्चे देख चुके थे आज मोर्चा खाए थे।"
[नूरजहां, पृ० १५]

मुगलकाल यौवन और उन्माद का काल था, उन विशाल सौध-प्रासादों की चहारदीवारी में ही मुगल शासकों का जीवन विकास पा रहा था। प्रकृति का उन्मुक्त क्षेत्र विलासमयी महिलाओं से दूर था। वे उन कृत्रिम कतराती कुल्याओं में ही क्रीड़ा करतीं। सुसज्जित झाड़ियों के हरित निकुंजों में, लता-बल्लरियों से मंडित उपवनों में, विहार करके प्रकृति की कृत्रिम एवं परिमित उपासिकाएँ होकर भी, सौन्दर्य की पूर्ण ज्ञाता थीं—

'उस सुदृढ़ किले के अन्दर था महल बना अति सुन्दर
हो लिए अंक में शोभित ज्यों हिमगिरि मानसरोवर
था वास्तुकला - सीमा सा वह महल संगमरमर का
करता सलीम क्रीड़ा था बन कर मंगल उस सर का
द्रुम और लताएँ मणियों की, फूल भार से झुक कर
यद्यपि मिलिन्द के छेड़ों से विहंस रही थीं झुक कर।"
[वही, पृ० २३]

यदि एक ओर "शीतल गुलाब जल भरि चहबच्चन में" कृत्रिम प्रयोगों से शीलतला का साम्राज्य स्थापित किया जा सकता था, तो दूसरी ओर

"थे फूल बनाए सुन्दर कर मणि से पच्चीकारी
मखमल का फर्श जरी-कश थी छतें सुनहली सारी।
लाल और जमुर्रद, हीरे, मोती, मूंगे और नीलम
थे जड़े केलिशाला मे चारों दिशि करते चम-चम।"
[वही]

विलास के मोहन की सुंदरता

ऐशों-आराम के साज-सामान में एक भाँति के कल्पित सौन्दर्य की झाँकी 'जौहर' के निम्न लिखित वर्णनों में मिलती है। ऐयाश अलाउद्दीन

पद्मिनी के अलौकिक अनुपम सौन्दर्य की चर्चा सुन कर दीवाना हो गया है, और विलासिता के उपकरणों से भरे शीश महल में बेसुध-सा होकर पड़ा है। स्वर्ण-दीप्ति के मोहन में पड़ कर, रूप, शरीर और सतीत्व बेचनेवाली लावण्यमयी सुन्दरियाँ जिस समय उसे बहलाने का यत्न कर रही हैं उसी समय का चित्र अंकित करते हुए कवि कह उठता है—

"शीश महल की दीवालों पर शोभित नयी तसवीरें
चित्रकार ने लिखीं बेगमों की बहुरंगी तसवीरें
घूमीं सुन्दरियां आंगन में प्रतिबिम्ब दिवालों में घूमे
झूमी सुन्दरियां मधु पी, प्रतिबिम्ब दिवालों में झूमें।
'छमछम' दो डग चली नूपुरों की ध्वनि महलों में गूंजी
बोली मधुरव से, नखरे से, कोमल डालों पर कूंजी।
साकी ने ली कनक सुराही, कमरे में महकी हाला,
भीनी सुरभि उठी मदिरा की, बना मधुमन मतवाला।
मँह मँह सकल दिशाएं महकीं महके कण दीवालों के
सुरा प्रतीक्षा में चेतन क्या. हिले अधर मधु-प्यालों के।
....
परियों के मुख से स्वर लहरी, निकली मधुर मधुर ताजी,
सारंगी के ताल ताल पर, 'छम छम छम' पायल बाजी।"

इस प्रकार के वर्णनों में विलास-प्रिय मानव की सौन्दर्य-भावना वासना के रंग में अनुरक्त होकर चपल हो उठी है। विलास के ये उपकरण, समाज के सदाचार की शन्तिमयी सरिता को सुखा देने वाले होने पर भी मानव-हृदय की, स्वाभाविक वासनात्मक प्रकृति के कारण उसे कुछ देर के लिए सुन्दर जान पड़ते हैं। शीशमहल पर अंकित तसवीरें यौवन-मदिरा से मतवाली किशोरियों का झूम-झूम चलना, कोकिल विनिंदक उनका कलरव, उनके नूपुरों की रुनझुन, साकी की कनक-सुराही की महकती हुई शराब, ताल पर नाच-नाच कर गाना-सभी तो मानव को अपनी वासना के ही कारण मनोहर और ललित लगते हैं।

आधुनिक हिन्दी-काव्य में ऐसे वर्णन यद्यपि कम दिखाई पड़ते हैं तथापि इनका अभाव नहीं है। हल्दीघाटी का 'मीना-बाजार', जौहर की 'उन्माद-चिनगारी', नूरजहाँ का 'सलीम-विलास' आदि ऐसे वर्णनों से भरे पड़े हैं। इस प्रकार के वर्णन में विलास-प्रियता की झलक स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। इस विलास-प्रियता से उद्धत मानव-सौन्दर्योपासना के मूल स्रोतों पर पहले कुछ संकेत किया जा चुका है कि मनुष्य की सभ्यता का इतिहास उसकी सौन्दर्य-प्रियता का इतिहास है। दूसरे शब्दों में उसकी सभ्यता के साथ बढ़नेवाली सौन्दर्य की पिपासा, नैसर्गिक सुषमा की स्वच्छन्द आनन्द-धारा से पूर्ण तुष्ट न होकर प्राकृतिक उपादनों की सहायता से नए-नए संयोजनों का निर्माण करके तथा उनमें परिस्थिति-परिचालित कल्पना द्वारा रस-निष्यन्द का आरोप करके, तोष प्राप्त करने का यत्न करने लगी और उत्पन्न होने लगीं विविध भांति की कलाएँ। मानव ज्यों-ज्यों विकास के पथ पर—सभ्यता के मार्ग पर अविराम गति से बढ़ता चला, त्यों-त्यों उसके जीवन की अधिकार-लिप्सा-स्वत्वाधिकार की कामना बढ़ती गई। अपनी इसी लिप्सा के मोहन पाश में वह अधिकाधिक फँसता गया। प्रकृति के साथ उसका स्वाभाविक नाता भी बहुधा शिथिलतर होता गया मानव-जीवन की वासनाएं लिप्साएं उसके हृदय की निष्पत्त सौन्दर्यानुभूति को मलिन करती गई।

मानव-जीवन में प्रकृति और कृत्रिमता

यद्यपि प्राकृतिक सुषमा के अनन्य उपासक, सहृदय कलाकरों के—मुख्यतः कवियों के हृदय समय-समय पर नैसर्गिक सुषुमाओं से इतने प्रभावित और आन्दोलित हुआ करते थे, उन्हें उस सौन्दर्य-निधि के प्रवाह से इतना आनन्दातिशय मिलता था कि उनके हृदय-कलश में न समाकर आह्लाद की धारा उनकी कला के रूप में समस्त जगत् को अह्लादित करने के लिए, काव्य-कला के रूप में फूट पड़ी और उन्हीं के निस्वार्थ यत्न के कारण इधर-उधर मानव अपने चारों ओर कृत्रिमता से भरे हुए विश्व

का सर्जन करता हुआ भी, निसर्ग के साथ आरम्भिक सम्बन्ध को विस्मृत न कर पाया, समय-समय पर (आज तक भी) प्रकृति-सुषमा कृत्रिमता से भरे उसके हृदय की तन्त्रियों को झंकृत कर पाने मे समर्थ होती रही हैं।

पर जहां एक ओर कृत्रिम वातावरण से घिरे हुए सभ्यतानुयायी हृदय के अवरुद्ध द्वार को उन्मुक्त कर कवि मानव-मानस को प्रकृति-नटी की रागिनी के साथ गाने के लिए उत्प्रेरित कर उसकी वृत्ति का रागात्मक सम्बन्ध बनाए रखने की चेष्टा करता है, वहीं दूसरी ओर कृत्रिमता से दम घुटते हुए आधुनिक समाज के क्षेत्र में विचरण करते रहने के कारण कलाकार की कला भी अपने सौन्दर्य की चहल-पहल बढ़ाने तथा उसकी चमक-दमक और भी दीप्तिमय करने के लिए, पूर्वोक्त कृत्रिम वस्तुओं में सौन्दर्य-मान कर, उसकी अभिव्यक्ति में कला की सफलता ढूँढ़ने का प्रयास करती है। अतएव कभी तो बेलबूटे और वस्तुओं की अप्रस्तुत योजना में, नक्काशियों, में, उस कला का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है, सुषमा की दीप्ति का अनुभव होता है, कभी ऐशो-आराम के साज-सामान में उसे सुन्दरता दिखाई पड़ती है और कभी शान-शौकत की चीजों में ही वह सुन्दरता का महत्व समझता है।

वस्तु-कला का सौंदर्य

वास्तु-कला में बहुधा हम कृत्रिम सौन्दर्य की प्रतिच्छाया का दर्शन करते हैं। बेल-बूटे और ऐसी नक्काशियां, ऐसी तरुलताएँ और फल आदि जिनका वास्तविक जगत् में कभी साक्षात्कार नहीं होता, हमें सुन्दरतम प्रासादों, सौधों आदि में अंकित मिलते हैं। गुलाब की पत्तियां, कमल के फूल और अंगूर के गुच्छों की चित्रकारी बहुधा महलों और मन्दिरों में दिखाई पड़ती है। कपड़ों, गलीचों और साड़िओं में ऐसी कला बहुधा दृष्टिगत होती है। बगीचों में, क्यारियों में भी इसी प्रकार की रेखा-कला का चमत्कार दिखाई पड़ता है। कला के इस निर्माण में कलाकार की दृष्टि वास्तविकता की ओर नहीं वरन् ऐसे कल्पित वस्तु के संचयन में

सलंग्न दिखाई पड़ती है जो स्थान-विशेष में खिलती हों, उनमें ऐसे रंग की आयोजना होनी चाहिए जो ठीक-ठीक फबता हो।

सलीम के शाही बाग का वर्णन करते हुए 'नूरजहाँ' का कवि इस प्रकार की कला का एक स्थल पर वर्णन करता हुआ कहता है—

> "गोल कहीं पर कोण कहीं ,अंडे से कहीं त्रिभुज से,
> चित्र विचित्र कटे क्यारी में डमरू से, अम्बुज से,
> लाल लाल घासों की रविशों पर है गोट लगाई,
> समतल कहीं दूब की भूमि पर है हरियाली छाई।
> दौड़ रहे हैं मार्ग संगमूसा के हरियाली पर
> बीच बीच में मिल जाती है जिनमें नहरें आकर
> इन दोनों ने श्वेत-श्याम शतरंजी वहां बिछाई,
> जिस पर संखों के प्यादों ने अपनी चाल दिखाई।"
>
> [नूरजहाँ, पृ० ४६]

इसी प्रकार ऋतु भी उस स्थान पर अपने सहज सौंदर्य का कोई महत्व नहीं रखती थी, वहाँ तो सदाः—

> इस विशाल शाही उपवन में रहती षडऋतु छाई,
> था वसन्त भी हुआ विमोहित लख कर नव सुघराई।"

वैभव का प्रभाव और सौंदर्य—

जिस भाँति विलासिता के उपकरण अपनी मादकता से, मानव-जीवन के कृत्रिम सौंदर्य के उपकरण से बन कर हमारे मानस को लुभाने लगे उसी प्रकार ऐश्वर्य की महिमा, संपत्ति की गरिमा भी अपनी सुनहली दीप्ति से मनुष्य के सौंदर्योपासक भावों में चकाचौंध उत्पन्न कर मोहने लगी। जिस भाँति ऐश्वर्यशाली व्यक्ति अनेक अवगुण-संपन्न होने पर भी समाज में अनादर और तिरस्कार का पात्र न होकर संमान-भाजन होता आया है, गुणी भी उसकी प्रायः मिथ्या चाटुकारिता में अपने समय का दुरुपयोग करते रहे हैं, उसी प्रकार सौन्दर्य के मानदंड का पलड़ा भी कंचन की चमक से आक्रान्त

होकर उधर झुकने से न बच सका। जगत् में धन-वैभव की अपार महिमा और शक्ति की प्रतिष्ठा साधारणतः बनी ही रही—चाहे दृढ़ चरित्र तपस्विकल्प महापुरुषों के लिए वह नगण्य ही रही हो। वह जिस प्रकार वह जीवन के सभी अंगों में अपना प्रभाव-प्रसार करती गई उसी प्रकार कलाकार भी उसके प्रभाव से अछूता न बच सका। साम्राज्यवाद, सामान्तवाद, पूँजीवाद का विरोधी, समाजवादी मनोवृत्तिवाला प्रगतिशील कलाकार तर्क के आधार पर चाहे संपत्तिशीलता को भले ही समाज का विघातक बतावे, पर उसकी मोहकता के प्रभाव से अपने को रोक लेना अब तक कदाचित् कठिन ही रहा। अस्तु, कहने का तात्पर्य यही है कि अति प्राचीन समय से धन-वैभव की प्रभुता कला के क्षेत्र में दिखाई पड़ती रही है। और जैसा कहा जा चुका है, आज का कवि भी उसका वर्णन करता दिखाई पड़ता है। हल्दीघाटी में कवि अकबर के वैभव का चित्रण करते कह उठता है:—

"स्वर्णिम घर में प्रकाश बलते थे मणियों के दीप
धोते आंसू जल से चरण देश देश के सकल महीप।"

[हल्दीघाटी पृ० ४५]

इस उदाहरण की दूसरी पंक्ति में ऐश्वर्य की ही नहीं भौतिक बल की महिमा भी चमक उठी है। आगे चलकर एक स्थल पर कवि अकबर की, भारत के चक्रवर्ती सम्राट् की शान-शौकत का शब्दांकन करते हुए कहता है—

"रत्नजटित मणि-सिंहासन था, मंडित रणधीरों से
उसका पद जगमगा रहा था राजमुकुट के हीरों से।
जग के वैभव खेल रहे थे मुगल राज की थाती पर
फहर रहा था अकबर का झंडा नभ की छाती पर।"

[वही, पृ० ५७]

शोलापुर की निर्बल सेना को अपार बल वैभव की चक्की में निर्दयता से पीस, विजय-पताका फहराती हुई जब अकबर की अधिकार-लोलुप सेना लौट रही थी उस समय विजयोत्सव मनाने के लिए सारी दिल्ली नूतन

शृंगारों से सजधज कर नाच उठी थी। सोने-चांदी की माया अपनी मोहिनी में सबको मुग्ध कर रही थी—

"नीलम मणि के बन्दनवार, उनमें चाँदी के मृदुतार,
जातरूप के बने किवार, सजे कुसुम से हीरक द्वार,
दिल्ली, कुश पल्लव सहकार, शोभित उनपर कुसुमित हार।

[वही, पृ० ७१]

मुगल काल के वैभव का सानी कहाँ? किन्तु वैसा ही काल एक वार मौर्य एवं गुप्त काल में भी मुस्करा उठा था अपनी स्वर्ण दीप्ति से—

"केसर कस्तूरी की सुगन्ध,
करती थी प्रतिपल नयन-अंध,
था धूप-दीप का यों प्रबन्ध,
उड़ते सौरभ के अभ्रयान।
पथ पर विकीर्ण थे कहीं फूल
घर्षण से फट जाते दुकूल
खुल जाते सुग्रथित केशमूल
उठती जब सागर की तरंग।

[कुणाल, पृ० २५]

थे सजे कलश से सिंह द्वार
ध्वज तोरण बन्दन द्वार द्वार
मंगलघट घृत दीपक अपार,
दीपावलि दिन में बनी मुग्ध।

[वही]

दीपमाला की रमणीयता

उपर्युक्त वर्णनों में कई स्थालों पर दीपमाला की दीप्ति से दमकते हुए सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। वस्तुतः दीपमाला की सुन्दरता अति प्राचीन काल से मानव मन को मोहती चली आ रही है। अंधेरी रात के

नीलाम्बर में झिलमिल झिलमिल टिमटिमाते तारे आदिकाल से मानव-हृदय के कुतूहल को आह्लाद के हिंडोले पर झुलाते आ रहे हैं। सम्भवतः मानव भी अपनी प्रसन्नता प्रगट करने के लिए विजय, विवाह आदि आनन्द के अवसरों पर दीपमाला, झाड़-फानूस और आजकल, रंग-बिरंगे शीशों-वालों, तरह-तरह के झाड़-फानूस तो नहीं, किन्तु विद्युत्-दीपमाला की योजना करता आया है और उसकी धारणा के अनुसार इन में सौन्दर्य अवश्य निखर उठता है। रात्रि का शृंगार तो दीपक कर ही देते हैं, किन्तु कहीं-कहीं भास्कर के सन्मुख भी दीपावलियां बनकी स्पर्धा करती सी जाग उठती हैं—खिलजी दरबार के एक दृश्य का अभिराम चित्र देखिए—

"ललित झाडफानूस मनोहर, लाल हरे पीले जलते थे।
जगह जगह पर रंग बिरंगे, दीपक चमकीले जलते थे।"

आज भी स्वागत या आनन्द की बेला में बिजली के नीले-हरे, लाल-पीले बल्बों से सजे हुए प्रासादों, सौधों, मार्गों और विशेषतः तरुओं बल्लरिओं और कुंजों की दीप शोभा बराबर ही हमारे हृदय को आकृष्ट कर लेती है। इतना ही नहीं सरकस, प्रदर्शिनी आदि की विविध वर्णमयी प्रकाश-सुषमा को चकित विलोचनों से अवलोकन करने वाले पथिक प्रायः हमारे सम्मुख आते हैं। इतने प्रकाश को देख कर कोई भोले बालक के सदृश भले ही पूछ बैठे—

"इतनी दीपावलि क्यों की मां
क्या वे मन्द दृष्टि कुछ रखते हैं।"

किन्तु इतना मान्य होगा ही कि इस प्रकाश की प्रचुरता में, मुसका कर बुझ जाने वाली और फिर मर जाने वाली बत्तियों में सार्थकता है और है सम्मोहन की शक्ति जो कृत्रिम होते हुए भी आकर्षक है।

वेष-भूषा की सुन्दरता

ऊपर की पंक्तियों से कृत्रिम सौंदर्य के एक प्रकार-विशेष का कुछ परिचय मिला। इसी मानव-रचित तथा मानवीय सभ्यता के साथ

विकसित कृत्रिम शृंगार की भावना का ही परिणाम है कि प्राचीन युग से ही मानव-रुचि-संस्कृति के अनुरूप वस्त्रों भूषणों तथा अंगरागों के लेप आदि से (आज के युग में, स्नो, पाउडर, क्रीम, आदि से,) सौन्दर्य-वर्धन करने की चेष्टा में निरत रहा है।

इस प्रकार की सजावट की भावना ने समाज में अपनी गहरी नींव स्थापित कर ली है। वेष-भूषादि का परिवर्तन होने पर भी किसी न किसी रूप में सभी युग और सभी देशों में ये बातें पाई जाती हैं। सभ्य ही नहीं, असभ्य और बर्बर कही जानेवाली जातियों में भी किसी न किसी रूप में इनकी सत्ता वर्तमान थी, वर्तमान है और कदाचित रहेगी। हमारे वस्त्रादि उसी के एक अंग है। यद्यपि साधारणतः वे अपने साधारण रूप में हमारे जीवन के भी अंग बन गए हैं, पर इन सब के मूल में रहने वाली वृत्ति है मानव की सौन्दर्योपसना, जिसका निर्देश पूर्व के पृष्ठों में किया जा चुका है। इसी मूल भावना की उत्प्रेरणा से विभिन्न देशों में वस्त्रभूषणादि के नित्य नए फैशन चलते रहते हैं।

अधिक विस्तार में न जाकर इतना ही ध्यान देना पर्याप्त होगा कि मानव समष्टि का एक अंश कवि भी इसके प्रभाव से बच न पाया। प्राचीन काव्यों में वस्त्र-भूषणादि एवं अंगराग, अलक्तक, अंजन आदि मानव-सौन्दर्य-वर्धक उपकरणों की बहुत चर्चा हुई है। आज के काव्य में इनका वर्णन अपेक्षाकृत कम रहने पर भी पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगत होता है। जौहर के लिए उद्यत चित्तौड़ की ललनाएँ बड़े उत्साह से अपना शृङ्गार कर रही हैं, क्यों कि जीवन की लालसाओं के साथ-साथ अपने कोमल वपु को अग्नि की भीषण ज्वाला में समर्पित कर देने का अभिप्राय था, इस जीवन में मर्यादा की रक्षा और अन्य जीवन में प्रिय की चिर प्राप्ति-लालसा—

"नीरस में भी रस भर देतीं, आंजन से आंजी आँखें,
अन्तिम था शृंगार यही किस दिन के लिए कभी राखें
गोरी गोरी हथेलियों पर अरुण कमल के चित्र बने
पति-पत्नी के मिलन-विरह के कर पर चित्र विचित्र बने,

भरी महावर से हाथों में हीरे की प्याली दमकी,
फूलों से कोमल रानी के पैरों की लाली दमकी।"
[जौहर, पन्द्रहवीं चिनगारी]

इतना ही नहीं—
"कनक फूल कानों में झलके, गलके गहनों के रुनझुन
कटि में कटिकस कलित करधनी, झुनुन झुनुनरुन झुनुन झुनुन।"
[वही]

इन उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे जीवन के एक-एक आकर्षण-विन्दु ही सुन्दर हो उठते हैं और सौन्दर्य की अविरत उपसना में तत्पर मानव जाति आदि युग से अपनी निरन्तर प्रवर्द्धमान सौन्दर्य-पिपासा की तृप्ति के लिए अश्रान्त होकर यत्न करती आई है। उसी के कारण वास्तुकला आदि का जन्म ही नहीं हुआ वरन् उसके जीवन में अनेक की नयी-नयी सौन्दर्योद्भावनाएँ जागरित होती गईं। अपना घर, अपना शरीर, अपने वस्त्राभूषण अपना भोजन, सभी कुछ वह सुन्दर बनाने का, अथवा अपनी समझ से सुन्दरता और सुन्दरतम बनाने का, (क्यों कि सौन्दर्यनिधि प्रकृति से प्राप्त सुन्दरतामात्र से उसके लोभी हृदय की तृष्णा शान्त नहीं होती) प्रयत्न सदैव से करता आया है। पर यह आवश्यक है, जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है, प्रायः इन कृत्रिम सौन्दर्यों की ओर, कभी-कभी साधारण सुन्दरता की भी, मानतुला देश और काल के अनुसार भिन्न-भिन्न होती रहती है। क्यों कि सौन्दर्य के अनुभविता की रुचि, देश और काल से निर्मित होती है। इतना ही नहीं, कल्पित स्थानों, वस्तुओं और व्यक्तियों या देवों आदि के सम्बन्ध में भी हमारी कल्पना की उड़ान इन्हीं देश-काल के प्रभावों से परिचालित होती है। हमारे नित्य के जीवन में जो वस्तुएँ आकर्षक लगने के कारण हमें सुन्दर जान पड़ती है, उन्हीं के चरम उत्कर्ष का आरोप हम कल्पना की सृष्टि में, अतिमानव लोक और स्त्री-पुरुष के विषय में करते है। स्वर्ग की अनन्त विभूतियों की, नन्दन कानन की तरुलता कुसुमादि तथा फल वृक्षादि की,

उर्वशी और शची इन्द्र और काम आदि की शोभा भी इन्हीं से प्रसूत है—

"प्रस्तुत समक्ष उसे स्वप्न की सी बातें थीं
सोकर क्या खोने के लिए वे रम्य रातें थीं,
प्रातः काल होता था विहार देव नद में
किंवा चन्द्रकान्त मणियों के हृद्य छंद में
भूख और प्यास भी बुलाने को आती थीं
प्यार ही वहां की सार तत्व पहुँचाती थी।"

[नहुष, पृ० २३]

असामान्य में सौन्दर्य-दर्शन

इसी प्रकार भव्य और अलौकिक कल्पनाओं से भरी कामायनी में भी सारस्वत प्रदेश की प्राचीन सुषमा का वर्णन, उपलब्ध इतिहास के बीजों में कल्पना का सुघर योग पाकर निखर उठा है—

"कुछ प्रकाश धूमिल सा उसके
दीपों सा था निकल रहा,
पवन चल रहा था रुक रुक कर
खिन्न भरा अवसाद रहा।
....

मंडप के सोपान खड़े थे सूने कोई अन्य नहीं
शून्य राजचिन्हों से मन्दिर, बस समाधि सा रहा खड़ा।"

[कामायनी, पृ० १५९]

इसी भाँति प्रलय के दृश्य में भी भीषण और अद्भुत के मिश्रण से कल्पित विराट् और रौद्र के सौन्दर्य का सुन्दर चित्रण हुआ है। कहने का तात्पर्य यह कि परिस्थितिगत सुन्दरताएँ आधुनिक काव्यों में अनेक स्थलों पर मिलती हैं।

शील और चरित्र का सौंदर्य

"कुणाल की अपरिमित त्यागमयी उदारता और क्षमामयी सहनशीलता एक साथ ही हमारे हृदय में करुणा के आँसू और हृदय में क्रोध का विक्षोभ भर देती है। देश की आन पर, सतीत्व के मान पर और गौरव की शान पर किशोरियों, निरीह बालिकाओं का धू-धू कर जलती हुई ज्वाला में भस्म हो जाना एक अद्भुत और परम आदरणीय सुन्दरता का सर्जन करता हैं—

"आग में कूदीं अभागिन प्रथम विधवाएँ बिचारी,
प्राणपति के सामने कूदी चिता में प्राण प्यारी,
देखती अपलक तनय को मां बलती चिता में,
हा पिता के सामने कूदी सुता जलती चिता में।
....

दुधमुही नव बालिकाएँ, जो न कूद सकीं अनल में,
आग मे फेंकी गईं वे मातृ-कर से एक पल में
देख भैरव दृश्य जड़ चतन सभी लय झांपते थे,
चीखती थीं यामिनी, तारे गगन पर काँपते थे,
प्रलय के भय से दिशाएँ त्राहि त्राहि पुकारती थीं
इधर ललनाएँ चिता में मौत को ललकारती थीं।"

इस कारण भीषणता में सतीत्व को अछूता रखने के लिए प्राणों को तृणवत् समझ कर आग में आहुति दे देने की भावना का महत्व, परिस्थिति और सांस्कृतिक संस्कार के कारण ही अत्यन्त रुचिकर और आकर्षक हो उठता है। चिता भी कमनीय हो उठती है।

आत्मानुभूति का उत्कर्ष—

प्रथम वसन्त में नवपल्लवों की झुरमुट में खिलती हुई मृदुल कलिका जिस भांति झंझा के क्रूर करों से नोंच कर दूर कर दी जाती है, उसी प्रकार प्यार से भरा अनुराग-रंजित अपना तन, मन और यौवन, प्रियतम सलीम पर निछावर करने वाली अनार कली जब अकबर के प्रलोभनों को,

चलने लगे निरीह नरों पर
भाले और छुरे चाकू।
रक्षक बनने वाले धर्म के
हत्यारे गुण्डे डाकू ।"

[आत्मोत्सर्ग, पृ० २६]

मानव अपदार्थ कीट की मौत मर रहा था, शोणित की नदियाँ बह रही थीं, विपदाओं के तुङ्ग पर्वत भीमकाय धारण किए अट्टहास कर रहे थे—

"ऐसे ही कितने द्वारों पर
छिड़क छिड़क मिट्टी का तेल
अट्टहास कर कर हत्यारे
खेल उठे होली का खेल
नाच उठीं ज्वालाएं नभ में
इधर उधर दांए बाएं,
लप लप करने लगीं लपक कर
महाकाल की जिह्वाएं ।"

[आत्मोत्सर्ग, पृ० ३५]

उस समय विकट परिस्थितियों को चीरता हुआ विद्यार्थी जी का चरित्र सौन्दर्य-तप्त कंचन-सा दमक उठा है—

"क्षत विक्षत पद की चट्टी ने भटकाया उनको इस बार,
पैरों से सक्रोध उन्होंने फेक दिया झट उन्हें उतार ।"

उनका त्याग, उनकी गरिमामयी उदारता, जीवन त्यागने की निर्लिप्त भावना, सभी परिस्थितियों की विकटता पर व्यंग करती हुई भौतिक दृष्टि से भले ही विलीन हो गई हों किन्तु सौन्दर्य की संचित छाप अवश्य छोड़ गई। चिन्ता की ज्वाला में कालिमा का पुंज उज्वल हो उठा है—

"घर घर ज्ञान प्रदीप जला दे
मरणोंदीप्त चिता तेरी ।"

इसी प्रकार आज भी पूंजीपतियों के अत्याचार वर्णन और शोषितों तथा पीड़ितों की दुर्दशा के चित्रण आधुनिक युग की परिस्थिति-विशेष के कारण कलात्मक और सुंदर हो उठे हैं। और वे करुणा प्रवाहित कर हमारे हृदय को सहानुभूति की तरलता से आप्लुत कर देते हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने की बात है कि लोक-मनोवृत्ति, सांस्कृतिक, दैशिक तथा कालिक संस्कारों और परिस्थितियों से जिस सांचे में ढली रहेगी, हृदय भावनाओं से बासित रहेगा तदनुसार ही सौन्दर्यानुभूति होगी। जैसे साम्प्रदायिक द्वेष से अन्धा मानव गोरा-बादल की व्यवस्थानुसार खिलजी को बहकाने में धूर्तता और विश्वासघात की असुन्दरता का भी दर्शन कर सकता है।

वैयक्तिक प्रभाव

जिस भांति सामूहिक लोक-मनोवृत्ति, सौन्दर्यानुभूति में अत्यन्त सहायक अङ्ग होती है उसी प्रकार कवि की वैयक्तिक मनोवृत्ति भी अपनी अलग धारणा रखती है और तदनुकूल काव्य-योजना में तत्पर रहती है। कवि प्रसाद को ''नील'' शब्द में ही सौन्दर्य का साक्षात्कार होता रहता है। उनकी कविता में इसकी बहुलता देखिए—

'हे सागर संगम अरुण नील'
'नील नयन से ढुलकाती हो ताराओं की पांत घनी रे'
'मसृण गान्धार देश के नील रोम वाले मेषों के चर्म'
'व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुखमणिगण द्युतिमान'
'ओ नील आवरण जगती के दुर्बोध न तू ही है इतना'
'नील कुंज है झीम रहे। ....'
'माया के नील अंचल में आलोक विन्दु झरता सा'

इतना ही नहीं—

विभव-मतवालों की प्रकृति का आवरण वह नील ही उनके लिए सब कुछ है। इसी भाँति विराट् की विशाल योजना में निराला सौन्दर्य देखते

हैं। करुणा और शून्य की व्यथा भरी उदासी में महादेवी वर्मा को अनन्त सौन्दर्य प्रतिविम्बित दिखाई पड़ता है। प्रगतिशीलता का पथ अपनाने के पूर्व पन्त में कोमलता और रागमयी तरलता सौन्दर्य की सृष्टि करती थी, तथा बच्चन की दृष्टि में मानव की मानवीय दुर्बलताएँ ही उसकी मानवता हैं, उन्हीं में एक व्यावहारिक एवं स्वाभाविक सुन्दरता है। अस्तु, सारांश यह कि प्राकृतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त मानव-प्रकृति और भावना, संस्कृति और परिस्थिति आदि ने जीवन और जगत् में अनेक भांति की सुन्दरताओं का सर्जन किया है। उन्हीं का दर्शन करना एवं कराना ही कलाकार की कला है, जिसका निर्देश किया जा चुका है। इनका विस्तृत वर्णन स्वयमेव एक ग्रन्थ का विषय है। अतः इतने दिग्दर्शनमात्र से ही सन्तोष करना पड़ रहा है।

अष्टम उन्मेष

उपसंहार

सौन्दर्य का आस्वादन

सौन्दर्य के अनेक अंगो पर पूर्व प्रकरणों में विचार किया जा चुका है। आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर हमने यह भी देखा है कि चिरन्तन सौन्दर्य एक पारमार्थिक सत्य है और उसकी यह पारमार्थिक सत्यता मंगलमय है । इसी से कला के क्षेत्र में सत्य, शिव और सुन्दर, ये तीनों शब्द वस्तुतः एक ही पदार्थ की विभिन्न उपाधियों के परिचायक हैं । पर सौन्दर्य के इस अलौकिक सूक्ष्म रूप की प्रतीति भौतिक स्वार्थ-परता एवं वासना के कलुषित अन्तःकरणवाले पुरुष को नहीं होती, वरन् जिसका मानस प्राकृतिक तत्वों के साथ अपना व्यक्तित्व विस्मृत कर अपना तादात्म्य और साजमंस्य स्थापित कर लेता है, लोकसत्ता में, क्षण भर के लिए ही सही, अपना लय कर देता है, वह अलौकिक प्रतिभाशाली क्रान्तदर्शी कलाकार उस मंगलमय सुन्दर सत्य का साक्षात्कार करता है और साक्षात्कृत तथ्य की अभिव्यक्ति ही उसकी कला है । उसी से कलाकार की अभिव्यक्ति अलौकिक मानी जाती है और उस की कला का आस्वादन उसी को होता है जिसका हृदय संवेदनशील है, जिसमें सहृदयता होती है, जो वैयक्तिकता के स्तर से ऊपर उठ कर लोकभूमि तक पहुँचने की क्षमता रखता है । कलाकार और आस्वादनकर्ता का यही अन्तर है कि जहां कलाकार प्रकृति और मानव-अन्तःकरण के गूढ़ रहस्यों का अपनी प्रतिभा-दृष्टि से साक्षत्कार करता है और फिर अपनी कला में "स्वान्तः सुखाय" उसकी अभिव्यक्ति करता है, वहां आस्वादनकर्ता गूढ़ रहस्यों का स्रष्टा न होते हुए भी कलाकार की कला में अभिव्यक्त तथ्यों और तत्वों की रमणीयता का अनुभोक्ता होता ।

जो बात अन्य ललित कलाओं के विषय में कही जा सकती है वही काव्य-कला के सम्बन्ध में भी । कवि अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा

लौकिक गूढ़ रहस्यमय सौन्दर्यों का साक्षात्कार करता है और फिर अपनी अभिराम तथा भावाभिव्यंजन-समर्थ वाणी में उसे पिरोकर संसार के सम्मुख रखता है। यही है उसकी कला। अतः कवि तत्वानुसन्धान-निरत प्राकृतिक रहस्यान्वेषी वैज्ञानिक की भांति सौन्दर्यान्वेषी साधकहै। जिस प्रकार वैज्ञानिक अपने अनुसन्धान द्वारा प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करके लोक के सम्मुख रखता है उसी प्रकार कवि भी प्रकृति और मानव-अन्तः करण के गूढ़ सौन्दर्यों का साक्षात्कार करता है और फिर समस्त संसार को उस सौन्दर्य-विभूति का दर्शन कराने के लिए आकुल होकर वाणी के सहारे उस सौदन्र्य को चित्रित करना चाहता है।

सौंदर्य और यथार्थानुभूति

इस उपर्युक्त दृष्टि से विचार करने पर काव्य के क्षेत्र में यथार्दवाद का अभिप्राय होगा कवि का वह वर्णन, कवि की वह कलामयी वाणी जिसमें वह अपनी प्रातिभ दृष्टि से साक्षात्कृत सुन्दर तथ्यों का वर्णन करे अर्थात् कवि का वर्ण्य-विषय उसकी सौदन्दर्यान्वेषिणी प्रतिभा-दृष्टि से, चाहे वह प्रातिभा कल्पना-सहकृत ही हो, स्वय अनुभूत हो, या साक्षात्कृत हो। यही कवि के वर्ण्य विषय की विशेषता है और इसी के कारण उसके वर्णन में काव्यगत चरम सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हो पाती है। भाव-विभावादिकों का वर्णन जब प्रातिभा और साक्षात्-अनुभूति से उत्प्रेरित नहीं होता वरन् कोरी कल्पना और सुनी बातों का ही आश्रय लेकर चलता है, तब उसका वर्णन मोल खरीदी हुई सहज-ममताहीन धायी के कृत्रिम वात्सल्य सा हो उठता है। उससे न तो श्रोता या पाठक की हृत्तंत्री के तारों मे झांकृति ही उत्पन्न हो पाती है और न भावों में स्पन्दन ही होता है। ऐसा वर्णन नीरस, प्रभावहीन और निष्क्रिय हो उठता है। तात्पर्य यह कि कवि का वर्णन यथार्थानुभव से प्रेरित होना चाहिए।

पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—कवि की अभिव्यक्ति में जहां एक ओर यथार्थानुभवप्रेरित भावुकता आवश्यक है, जहां अन्तर्लोक के गूढ़ सौन्दर्यों को उद्घाटित करने में समर्थ, अन्वेषणशील प्रातिभ-दृष्टि

आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर उसकी युक्ति में कल्पना के सहारे कुछ न कुछ अभिनव रमणीयता का सर्जन भी नितान्त आवश्यक है। बिन रमणीय नूतनता के उसकी उक्ति का पूर्ण कलात्मक विकास नहीं माना जा सकता। प्राचीन भारतीय साहित्याचार्यों के शब्दों में, इसे ही लोक (अन्तर्लोक, भाव-जगत् और बहिर्लोक वस्तु-जगत् या प्रकृति) शास्त्रादि के पर्यवेक्षण से सहकृत, सरस यथार्थ-कल्पना से प्रेरित, कवि की शक्ति और निपुणता कह सकते हैं जिसके बिना काव्य में सौन्दर्य का सर्जन नहीं हो पाता।

काव्य-सौंदर्य और लोक-सौंदर्य

यहां काव्य के सौन्दर्य का प्रपंच प्रदर्शित करने का तात्पर्य यह है कि काव्यगत सौन्दर्य लोक-सौन्दर्य से विलक्षण होता है। और इसी लोक-विलक्षणता के कारण काव्य-सौन्दर्य को अलौकिक कहते हैं। इस लोक-विलक्षणता के सम्बन्ध में यहां कुछ विचार कर लेना अनुचित न होगा। लोक में हम कुछ पदार्थों को सुन्दर और कुछ को असुन्दर कहते हैं। जब बसन्त की किसी स्वर्णिम प्रभातबेला में, गन्धभार से अलसा मन्द मलयानिल चराचर के हृदय को गुदगुदाता हुआ मानव को पुलकित कर रहा हो, बनों एवं उपबनों के कुसुमों पर मँडराते हुए मिलिन्द-वृन्द मधुगान कर रहे हों, सहकार की सुरभित मंजरियों में छिपा हुआ पिक बसन्त का सन्देश अपनी कूकों में सुना रहा हो, और अपने-अपने नीड़ों से निकल-निकल कर विहग-वृन्द कलरव से दिङ्मंडल को मुखरित कर रहा हो, तब लौकिक दृष्टि से हम इसे सुन्दर कहेंगे। और इस दृश्य का कवि द्वारा कलात्मक वर्णन भी सुन्दर ही होगा। पर एक, निर्जन स्तब्ध रात्रि में, जब समस्त विश्व सुख की नींद सो रहा हो, तब एक दीन, दरिद्र, असहाय माता के घर में, जिसके पास न धन है न आभूषण, अर्धरात्रि के समय घुसकर आभूषणों की अलमारी की ताली मांगते हुए चोरों द्वारा उसके उत्संग से इकलौते बच्चे को छीन कर, धन और स्वर्ण न पा सकने के कारण क्रोधान्धों द्वारा हत्या का होना लौकिक दृष्टि से परम दुःखद, असुन्दर

और अप्रिय होता है। पर कवि की प्रतिभा जब इन दोनों उपर्युक्त सुन्दर और असुन्दर दृश्यों का कलात्मक वर्णन करती है, अपनी कल्पना और सहृदयता की तूलिका से जब कवि इन दृश्यों को अंकित कर देता है तब उपर्युक्त द्वितीय दृश्य रोमांचकारी, हृदयविदारक और करुणोत्पादक होने पर भी अत्यन्त रमणीय और सुन्दर हो उठता है। व्यक्ति-विशेष की करुण-अवस्था कवि के विभावन व्यापार द्वारा, साधारणीकृत हो जाने से लोक-सामान्य के हृदय को स्पर्श करनेवाली हो उठती है। इसी से वह हृदय की उदात्तता, सरलता, संवेदनशीलता और सहृदयता अत्यन्त रमणीय और मंगलमय हो उठती है। रस शास्त्र के प्राचीन भारतीय आचार्यों ने इसी से रसानुभूति को अलौकिक माना है और उसके सौन्दर्य के आस्वादन के कारण ही, दुखद को भी सुखमय कहा है। इसी प्रकार क्षुधा की ज्वाला से जर्जरित, समाज से प्रताड़ित, पूंजीपतियों से शोषित, सबलों से निर्दलित एवं वैभव विलासोन्मत्त अनुदार जनों से उपहसित, एक अस्थिचर्मावशिष्ट भिक्षुक जब किसी परम धनिक के ड्राइङ्गरूप में घुस कर चुपके से उसकी चांदी की ऐशट्रे चुरा कर दुकान की ओर, चल देता है—अपनी हाहाकार करती हुई उदराग्नि को शान्त करने, तब चाहे लोक में उस ट्रे का स्वामी उसे पकड़ कर कितना ही क्यों न पीटे और उसके चाटुकार परिजन, मित्र, पड़ोसी, सेवक और समर्थक दरिद्र की कितनी ही निन्दा क्यों न करें, उसके कृत्य को कुत्सित और जघन्य क्यों न बतावें, एवं कानून की दृष्टि में अपराधी मान कर वह कारागार में भले ही क्यों न ठूंस दिया जाय, पर जब कवि अपनी कला से उसकी अवस्था को अंकित करता है तब बरबस ही हम उस पर मुग्ध हो उठते हैं।

इसी भाँति मानव के अन्तःकरण की, जन्तु-जगत् की, प्राकृतिक दृश्यों की तथा मनुष्य के आचरणों की अनेक अवस्थाएँ हैं, जिन्हें लौकिक और व्यावहारिक दृष्टि से परम अशोभन, अशुभ, असुन्दर और अनुचित कहेंगे पर कवि की सृष्टि में, उसकी कलात्मक कल्पना से चित्रित होने पर, उसमें

लौकिक असौन्दर्य रहने पर भी, उसका साहित्यिक सौन्दर्य सहृदय पुरुषों के हृदय का अनुरंजन करता है—शेक्सपियर के "मर्चेन्ट आफ वेनिस" का महाकृपण, दरिद्र-रक्त-शोषक वणिक भी साहित्यिक दृष्टि से अपनी साहित्यिक सुन्दरता प्रकट करता है। कामायनी का प्रलय-वर्णन वास्तविक जगत् में परम भीषण होने पर भी काव्य में वर्णित होकर अनुपम सौन्दर्य प्रगट करता है। शिकारी दुष्यन्त द्वारा पीछा किया जाता हुआ हरिन चौकड़ी भर कर भागता हुआ तथा अति परिश्रम के कारण हांफते रहने से आधा कुचला ग्रास प्यासे मुख से गिराता हुआ लोक में सुन्दर न होने पर भी कालिदास की कला का योग पाकर 'ग्रीवाभंगाभिराम' हो उठता है। राम द्वारा सीता-त्याग, दुष्यन्त का शकुन्तला-परित्याग, केकयी के मोह में पड़ कर दशरथ द्वारा राम-निर्वासन, छिप कर राम द्वारा बालिबध, 'इविल स्पिरिटो" के मोहक इन्द्रजाल की भूल-भुलैया में फँसे हुए "मैकवेथ" द्वारा अपने बादशाह की छल-हत्या आदि अनेक ऐसे काव्य-नाटकादि-वर्णित पात्रों के आचरण हैं, जिनका लौकिक रूप अनुचित और अशोभन न भी मानें तो भी हम इन्हें सुन्दर नहीं कह सकते। पर काव्य-जगत् में इनकी महत्ता अधिक प्रतिपादित हो सकती है।

काव्य में औचित्याभिव्यक्ति

यदि एक निष्पक्ष साहित्यालोचक की दृष्टि से इस प्रकार के वर्णनों पर विचार किया जाय और उनकी साहित्यिक महत्ता के कारणों को ढूँढने का का यत्न किया जाय तो यही दिखाई पड़ता है कि कलाकार के कल्पित, वास्तविक अथवा प्रतिभोत्थापित वर्णन में एक ऐसी वास्तविकता रहती है जिसके प्रभाव से काव्य-रसिक का हृदय बरबस-ही मुग्ध हो उठता है। उसका चित्रण, यदि सत्य और वास्तविक नहीं है तो भी सत्य और वास्तविक होने की उसमें पूर्ण योग्यता और क्षमता रही है। इसी से कुछ विद्वानों के मत से यथार्थानुकरण कला मानी जाती है। और इसी से शब्द-चित्रण, में चाहे वह रसात्मक हो अथवा प्रकृति-दृश्यात्मक हो,

औचित्याभिनिवेश अत्यावश्यक है। जब तक वर्णन में औचित्य नहीं है या (आधुनिक आलोचकों के शब्दों में) स्वाभाविकता का अभाव है तब तक वह कला उच्च कोटि तक पहुँची नहीं मानी जायगी। विशेष वर्णन द्वारा सहृदय पाठक या श्रोता के हृदय में सामान्यानुभूति उद्भावित करने के लिए काव्य में स्वाभाविकता या यथार्थता अथवा औचित्य की अनिवार्यता रहने पर भी कोरा यथार्थ-वर्णन, सीधा-सादा इतिवृत्तात्मक चित्रण केवल इतिहास या विशुद्ध समाचारपत्र की ही सामग्रीं रह जाती है। कोई भी काव्यमर्मज्ञ उसे काव्य न कहेगा और न उसके हृदय में उस शब्दांकन से कोई काव्यानुभूति ही होगी। सहृदय-हृदय-हारिता की उद्भावना के हेतु कवि को उसकी कल्पना-सहकृत प्रतिभा ही उसे बताती है कि अमुक वस्तु, भाव या दृश्य का सहयोग, उसके कविकर्म की सिद्धि का सम्पादन कर सकेगा। इसी कारण अभिव्यंजनावाद के संस्थापक क्रोचे काव्य में अभिव्यंजना की महत्ता ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उनके मत से वर्ण्य वस्तु की सुन्दरता की अपेक्षा कवि-वर्णन का सौन्दर्य अधिक महत्वशाली है। कुन्तल का वक्रोक्ति-मत भी कुछ-कुछ इसी प्रकार का सिद्धान्त है। यद्यपि वक्रोक्तिवाद अथवा अभिव्यंजनावाद पर शास्त्रार्थ करने का यहाँ न तो अवकाश है न अवसर तथापि यहाँ इतना कह देना अनुचित न होगा कि काव्य का जहाँ तक सम्बन्ध है, वहाँ तक वस्तुगत सौन्दर्य की अपेक्षा अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य कम महत्व का नहीं है. वरन् वस्तु के सुन्दर रहने पर भी यदि अभिव्यक्ति सुन्दर नहीं है तो काव्य असुन्दर हो जायगा और वस्तु के सामान्य, लौकिक दृष्टि से असुन्दर रहने पर भी अभिव्यंजन-रमणीयता से काव्य सुन्दर हो उठता है। यहाँ उदाहरण के लिए भोज प्रबंध का एक प्रसिद्ध स्थल उद्धृत किया जा सकता है। एक श्लोक की रचना पर एक लक्ष स्वर्ण मुद्रा के मिलने की बात सुन कर प्रतिभा-हीन कवि राजयश का वर्णन-विषय श्लोक बनाते हुए 'खोपड़िवत् कुष्ठवच्चैव' कह उठता है। इस अरसिक कवि के वर्णन में यश की धवलता का द्योतक उपमान खोपड़ी और कुष्ट अत्यन्त अशोभन और असुन्दर हैं, जिनके कारण सुन्दर भी असुंदर हो गया है। अभिव्यक्ति की सुन्दरता, अभिव्यक्ति के लिए

चुने गए अप्रस्तुत उपकरणों की रमणीयता वस्तु की सुन्दरता की अपेक्षा काव्य-कला में कुछ दृष्टियों से अधिक महत्वशाली है। द्यूतालय के जुआड़ियों का कोलाहल और जुआ खेलना सामान्य दृष्टि से असुन्दर होने पर भी, कवि के काव्य में सफल कवि की लेखनी से अंकित होने पर सुन्दर हो उठता है। अत्याचारी के अत्याचारों में भी कवि रमणीयता का दर्शन करा देता है, श्मशान की जुगुप्सा और निर्वेद में भी वह कलात्मक योजना प्रस्तुत कर देता है।

यहां जो कुछ कहा जा रहा है उसका तात्पर्य यह नहीं कि उपर्युक्त वस्तुएँ, जो लौकिक दृष्टि से असुन्दर कही जाती हैं उनमें सौन्दर्य का सर्वथा अभाव है वरन् आशय यह है कि लोक में परम व्यापक आनन्दमय सत्ता की जो विभूति कण कण में भरी है, व्यवहारिक दृष्टि से कल्याण-कारी होने के कारण जिसे हम मंगलमय अथवा शिवस्वरूप कहते हैं और सौन्दर्य के पुजारी कलाकर जिसे सुन्दरतामय कहते हैं, उसकी कला, उन असुन्दर कहे जाने वाले दृश्यों या पदार्थों में निहित है। पर साधारण जन से विलक्षण प्रतिभा-दृष्टिवाला क्रान्तदर्शी ही उसका उद्घाटन कर सकता है। यही कलाकार की विशेषता है, इसी से वह युग-युग से लोक में संमानित और समादृत होता आ रहा है।

जहां एक ओर कवि असुन्दर को भी सुन्दर बना देने की, अथवा यों कहें कि असुन्दर प्रतीत होने वाले पदार्थ के भीतर बहने वाली व्यापक सौन्दर्यधारा का आविष्कार कर देता है, वहीं सुन्दर वस्तुओं, दृश्यों और भावों में भी वह ऐसे सौन्दर्य को ढूंढ़ निकलता है जिन्हें जनसाधारण की दृष्टि देख सकने में असमर्थ होती है। एक उदाहरण देकर इसे हम अधिक स्पष्ट कर सकते हैं।

'प्रथम रश्मि का आना रंगिनि कैसे तूने पहचाना ?
कहां कहां हे बालविहंगिनि पाया तूने यह स्वर्गिक गाना ?'

हम देखते हैं कि अति प्राचीन युग से, सहृदय भारतीयों का अन्तःकरण उषा का मनोहर दृश्य देख कर मुग्ध होता आ रहा है, पक्षियों का

कलरव उसे पुलक से भर देता है। भारतीय कवि के काव्यों में सैकड़ों, सहस्रों वर्णन इस विषय पर भरे पड़े हैं। पर आज के प्रतिभाशाली कवियों के लिए प्रत्यक्ष में आज भी अभिनव रमणीयता है, आज भी उसकी कल्पना ऐसी गूढ़ सुन्दरताओं का उद्घाटन करती है जिसे साधारण व्यक्ति उषा की छवि देखते हुए भी नहीं देख पाता। हम सभी नित्य देखते हैं कि प्रत्यूष वेला में, ज्यों ही दिनकर की किरणों के आगमन की सूचना देता हुआ क्षीण आलोक, प्राची के गगनांगण का तिमिर-भेदन कर, उसे धवलित करना आरम्भ ही करता है त्यों ही विहगवृन्द दिशाओं को कलरव से मुखरित कर देता है। पर न तो हम कभी पक्षियों के कलरवों में गान ही देखते हैं न यही समझने का यत्न करते हैं कि प्रथम रश्मियाँ उन विहग-बालाओं को इतनी प्यारी हैं। कि उसके आगमन का अदृश्य संकेत पाकर अपने नीड़ों से निकल-निकल कर के आनन्द-पुलकभार से विह्वल होकर वे स्वागत गान करने लगती हैं। पर कवि की दिव्य दृष्टि इस प्राकृतिक रहस्य का उद्घाटन करती हुई जब अनादि काल से नित्य दिखाई पड़ने वाले इस दृश्य का शब्दांकन करती है तब हमारे सम्मुख यह प्रत्यूष-छवि और भी सुन्दरतर होकर आ खड़ी होती है। अतः यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कवि-कला जन-साधारण के लिए अलक्ष्य, सौन्दर्य का उद्घाटन करती है, असुन्दर के गूढ़ सौन्दर्य का साक्षात्कार कराती है और सुन्दर के सौन्दर्य को और भी अधिक दीप्त और भव्य बना देती है। अतः उसमें सौन्दर्य की परिधि, लोकसाधारण सौन्दर्य की अपेक्षा, अत्यन्त विशाल और व्यापक है। इतना ही नहीं वरन् वह अपने वर्ण्य की सुन्दरताभिव्यक्ति के लिए अवर्ण्य, अप्रस्तुत के, कभी गूढ़ कभी अगूढ़, सौंदर्य के उपकरण एकत्र करता है, कभी देशाश्रित और कालाश्रित आपेक्षिक सुन्दरता अथवा पृष्ठभूमि और वातावरण का सर्जन करता है, जिसके द्वारा उसकी अभिव्यक्ति में पदे-पदे नवता की सृष्टि होती है। इसी से मम्मट ने कवि के सर्जन को 'नियतिकृति नियम'-रहित 'अह्लादपूर्ण' और 'स्वतन्त्र' बताया है। वह भौतिक और आध्यात्मिक, सापेक्ष और निरपेक्ष, व्यापक और व्याप्य,

दैशिक और कालिक, शारीरिक और मानसिक आदि अनेक प्रकार के सौन्दर्यों का महर्षिकल्प द्रष्टा होता है और संसार के सभी दृश्य, वस्तु, भाव, विचारादि उसके लिए सौन्दर्य के आकर हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कवि के लिए विशाल विश्व का कण-कण सौन्दर्य से ओत-प्रोत है। अनन्त अम्बर के टिमटिमाते अगणित तारे, सागर, नदी, नद, झरने, और प्रपात, बन और नगर, सभी सौन्दर्य का उपहार लेकर कवि की कल्पना और प्रतिभा के द्वार पर सर्वदा वर्तमान रहते हैं। और वह भी जन साधारण की दृष्टि से परे सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है। सभी उसकी सौन्दर्यानुभूति के विषय बनते हैं। और वह स्वयं, उस आन्दानुभूति से आकुल हो उठता है तथा अपने आनन्द को विश्वानन्द बनाने के लिए व्यग्र होकर अपना समस्त आनन्द बिखेर देना चाहता है। पर उसकी यह सौन्दर्योपासना उसे अपना अभिव्यंजन भी सुन्दर बनाने के लिए प्रेरित करती है। अतः कवि की दृष्टि सौन्दर्य का साक्षात्कार करने में जितनी पैनी होगी और उसका अभिव्यंजन करने में जितनी कुशल होगी कवि को अपनी निर्मिति में उतनी ही सफलता प्राप्त होगी।

इन दोनों प्रकार की निपुणताएँ, युग-युग से कविकर्म की साधना का विषय रही हैं। इसी साधन द्वारा कला एवं सौन्दर्य की अभिव्यक्ति सभी काल के कवि करते आए हैं। भारतीय वैदिक और संस्कृत कवि किस प्रकार इस दिशा में चल कर अपनी कला-सृष्टि का निर्माण करते रहे हैं, किस भांति उनका अनुसरण करने वाले प्राकृत-अपभ्रंश आदि के कवि उनका अनुगमन करते हैं और हिन्दी-काव्य की धारा अपने शैशव से ही किस रीति से अग्रसर होती हुई वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक युग तक अपने वर्ण्य विषय और बाह्य कलेवर, भाषा और अभिव्यंजनशैली में, परिवर्तन करती हुई बही है, एवं आज वह कहां तक पहुंच गई है, उसकी अति संक्षिप्त और बाह्य रेखा को अंकित करने का यत्न पूर्व पृष्ठों में किया गया है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य में सौन्दर्याभियंजन की प्रणाली का विविध क्षेत्रों में क्या रूप है, इसके विषय में जो कुछ कहा गया है उसका सारांश यदि सूत्र रूप में निर्दिष्ट करना चाहें तो कह सकते है कि आज के हिन्दी कवियों ने जहां एक ओर भाव, अनुभूति और तीव्रता की ओर ध्यान दिया है वहीं दूसरी ओर व्यंजनात्मक, लाक्षणिक, अभिव्यंजनात्मक, रहस्यात्मक, प्रतीकात्मक तथा अन्य पूर्वोक्त अभिव्यंजन के उपकरणों की सहायता से अपने काव्यकलेवर को, मुख्यतः प्रगीत काव्य के स्वरूप को अत्यन्त रमणीय, कमनीय, मोहक तथा प्रभावशाली बना दिया है।

यही है आधुनिक हिन्दी-काव्यधारा की सौन्दर्याभिव्यक्ति जिसके कारण भारतीय साहित्य के इतिहास में आधुनिक काव्यधारा अपनी ऐसी मधुरिमा प्रवाहित कर देगी जो शुष्क, नीरस, हृदय पुलिनों तक को आप्लावित करती हुई युग-युग तक अठखेलियाँ करती रहेगी।

मुद्रक—विश्वनाथ प्रसाद (भगत जी) श्रीराम प्रेस, बुलानाला, बनारस।

सहायक ग्रंथों की सूची

Philosophics of Beauty by F. F. Carrit.
Judgement in Literature—Worse-fold.
Sublime and Beautiful—Burke
Philosophy of the beautiful—Knight.
Encyclopedia Britanica 11th edition.
What is art ?—D. S. Mac Coll, D. Litt.
The Meaning of Art—Herbert Read.
Sublime—Longinus.
Indian Aesthetic— Ramaswami.

ऋग्वेद	
गीता	
वाल्मीकि रामायण	
अभिज्ञान शाकुन्तल	(कालिदास)
रघुवंश	,,
मेघदूत	,,
उत्तर राम चरित	भवभूति
तैत्तरीय उपनिषद्	
काव्य मीमांसा	राजशेखर
साहित्य दर्पण	विश्वनाथ
काव्य-प्रकाश	मम्मट
नैषध	श्रीहर्ष
साहित्य	रविन्द्रनाथ ठाकुर
विचार और अनुभूति	नगेन्द्र
कला	हंसकुमार तिवारी

बीसवीं शताब्दी	नन्ददुलारे वाजपेयी
आधुनिक हिन्दी काव्यधारा	डा० केसरीनारायण शुक्ल
बिहारी की वाग्विभूति	पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
शैली	करुणापति त्रिपाठी
आधुनिक साहित्य का इतिहास	डा० श्रीकृष्णलाल
सौन्दर्य विज्ञान	हरिवंश सिंह शास्त्री
जीवन और दर्शन	सम्पूर्णानन्द
चिद्विलास	सम्पूर्णानन्द
काव्य-कला तथा अन्य निबंध	जयशंकर प्रसाद
सञ्चारिणी	शान्तिप्रिय द्विवेदी
कवि और काव्य	शान्तिप्रिय द्विवेदी
साहित्यालोचन	श्यामसुन्दरदास
चिन्तामणि	रामचन्द्र शुक्ल
विद्यापति काव्यालोक	नरेन्द्र
साहित्य सर्जना	इलाचन्द्र जोशी
हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
रासो	पृथ्वीराज
राम-चरित मानस	तुलसी
भ्रमरगीत	सूर
विद्यापति	पदावली
गीत गोविन्द	जयदेव
मतिराम	ग्रन्थावली
जायसी	ग्रन्थावली
बिहारी	सतसई
रसखान और घनानन्द	

नायडू और कवीन्द्र रवीन्द्र के गीतों से विशेष प्रभावित हुए। इसी समय इन्होंने कालिदास का 'रघुवंश' भी पढ़ा और इसकी कल्पनाओं तथा चमत्कारिक उपमाओं से भी प्रेरणा ग्रहण की। इस समय की उनकी कृति 'ग्रन्थि' है। 'ग्रन्थि में विशेषतः प्रेमानुभूति सम्बन्धी रचनाएँ हैं। 'ग्रन्थि' वियोग शृङ्गार का काव्य है जो एक युवक की प्रणय-कहानी पर आधारित है। इसका नायक स्वयं कवि है और इसकी कथा, अतः, आत्मजीवन से ही ली गई है। सायंकाल के समय नायक की नौका जल में तिरोहित हो जाती है, और वह इसकी अतल गहराई में संज्ञाहीन हो जाता है, पर जब उसे चेत होता है तो वह अपने को एक कोमल सुन्दर बालिका के क्रोड़ में सिर रखे पाता है शनैः शनैः उसका प्यार विकसित होता है पर कवि को इस प्रणय में निराश मिलती है और नायिका का ग्रन्थि-बन्धन किसी दूसरे के साथ हो जाता है। इस प्रकार यह कथा दुखान्त वातावरण में समाप्त होती है। 'ग्रन्थि' में प्रेम, परिहास, रति, स्मृति; आशा; अश्रु, वेदना, उन्माद आदि वियोग शृङ्गार के सुन्दर उपकरणों का भावनामय चित्रण है। कवि प्रेम को लक्ष्य करके कहता है—

"ओ भोले प्रेम! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से, जहाँ
× × ×
+ + +
पर नहीं तुम चपल हो अज्ञान हो,
हृदय है मस्तिष्क रखते हो नहीं।"

गीतिमयता इस काव्य की विशेषता है। कला की दृष्टि से भी यह दुःखान्त वर्णनात्मक शैली की अत्यन्त सुन्दर अलंकृत रचना है। अलंकारों और उक्तियों ने उनके नये हाथों में पड़कर बड़ी ही अनूठी छटा दिखाई है। 'पल्लव' की रचनाओं में शब्द, रचना और ध्वनि सौन्दर्य के विशेष दर्शन होते हैं। वीणा काल की रचनाओं में एक रहस्यमय बालिका का सा सौन्दर्य है जो 'पल्लव' में आकर यौवन के रस को, मांसलता को और विशेष संवेदन-